अध्याय 12[34*]
अध्ययन (The Study)

आरम्भिक वैदिक साहित्य में इन अर्द्ध-घुमन्तु कबीलों में शिक्षण-स्थान पर कुछ नहीं कहा गया है। यदि ऋग्वेद VII, 107, 3 वैदिक शिक्षा से सम्बन्धित है (मेंढकों के सवाल-जवाब के रूप में टर्राने की तरह पुत्र द्वारा अपने पिता के कहे को अक्षरशः दोहराना), तो यह स्थान सम्भवतः परिवार का घर होगा, जो एक छोटी-सी बस्ती (विश) में नरकट और पुआल-चटाइयों[35] से बना एक छोटा-सा चलता-फिरता घर होगा।[36] बाद के वैदिक ग्रन्थों में बहुत विस्तार से नियमों का उल्लेख किया गया है कि एक वैदिक विद्यार्थी को कहाँ, कब, और किस तरह से शिक्षा दी जा सकती है। इन नियमों में पूर्ण सुसंगतता की उम्मीद नहीं की जा सकती है, क्योंकि हमारे स्रोत चार वेदों की बहुत-सी शाखाओं से सम्बन्धित हैं, तथा ये अलग-अलग क्षेत्रों और कालों की उपज हैं। शिक्षण के लिए आदर्श स्थान रिहाइश से बाहर था, जो परम्परावादियों के नए विचारों या प्रयोगों के प्रति अरुचि को दर्शाता है, इस सन्दर्भ में बड़ी बसाहटों के प्रति।[37] इसलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है : "वह जो इनका अध्ययन (ऐसे स्थान पर) करता है, जहाँ कोई अपने सामर्थ्य के अनुसार छत (अर्थात् गाँव के छतों) को नहीं देख सकता है, तो वह सूर्य / स्वर्ग के पास चला जाता है, यदि वह अपनी प्रतिज्ञाओं (व्रत के नियमों) को नहीं तोड़ता है, तो वह एक सम्पूर्ण (पूर्ण आयु वाले) जीवन में चला जाता है..."[38] बहुत-से आधिकारिक विशेषज्ञों ने यह घोषणा की है कि शिक्षा गाँव के निकट बाहर (ग्रामान्त) में नहीं दी जानी चाहिए[39], और "कुछ यह कहते हैं कि : कभी भी नगर में नहीं दी जानी चाहिए,"[40], या "बाजार में शिक्षा देने से

[34*] Hartmut Scharfe, *Education in Ancient India*, Brill, Leiden, 2002, Chapter 12

[35] L. Renou, *Journal Asiatique* (JA) 231 (1939), p. 504 and H. Falk, in: *Inside the Texts, Beyond the Texts,* ed. M. Witzel, Cambridge / Mass. 1997, pp. 75f). वैदिककालीन भारतीय घुमन्तु नहीं थे : P. Thieme, *KZ (Kuhns) (Zeitschrift fur vergleichende Sprachforschung)* 81 (1967), p. 234; लेकिन कम-से-कम आरम्भिक समय में उनका सुनिश्चित निवास नहीं था (हालाँकि मुमकिन है कि मूल निवासियों के पास ऐसा कोई निवास हो) : W. Rau, pp. 203-206 in: *Inside the Texts, Beyond the Texts,* and M. Witzel, *ibid.,* pp. 294f.

[36] मेंढकों और पिता-पुत्र की समानता पहले जो माना गया था उसकी तुलना में और भी करीब हो सकती है। मेंढकों की गतिविधि और शिक्षण की शुरुआत, दोनों ही मानसून के मौसम में आते हैं। ठण्ड के मौसम (शिशिर यानी जनवरी और फरवरी) में वैदिक जनजातियाँ अभियानों में इधर-उधर घूमती रहीं, जब तक ग्रीष्म ऋतु की गर्मी ने उन्हें घर वापस नहीं कर दिया : *Taittiriya-brahmana* (TaitB) I 8,4,If. and *SB* V 5,2,3-5... गृह्यसूत्रों के अनुसार इन ऋतुओं में शिक्षण को रोक दिया जाता था।

[37] C. Kunhan Raja, *Some Aspects of Education in Ancient India*, Madras 1950, p. 36f. इन्होंने नए विकास को पहचाना, लेकिन गलत तरीके से इसके लिए "वैदिक सभ्यता में किसी विभीषिका" को जिम्मेदार ठहराया। उनके दावों के विपरीत आरम्भिक वैदिक दौर में कोई "नगर या गाँव" नहीं था (पृ. 3)। विश शायद एक कुनबे का निवास था।

[38] *TB* III 12,5,3 एतान् यो अध्येति अच्छदिर-दर्शे यावत-तरसम स्वर् एति, अनवव्रतस् सर्वम् आयुर एति, तुलना करें, *TA* II 11,1, में मंत्रोच्चारण (स्वाध्याय) के नियम, ब्रह्म यज्ञेना, यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामाद् अच्छदिर दर्श उदीच्यं प्रागुदीच्यां वोदित आदित्ये दक्षिणात उपवीयोपविश्य "वह जो ब्रह्मयज्ञ करना चाहता है, वह गाँव से पूर्व जहाँ छत दिखाई नहीं देती, या गाँव के उत्तर या उत्तर-पूर्व में भी, जब सूरज उग आया हो और जब वह ऊपर दाहिनी ओर से वस्त्र ओढ़ने का बाद नीचे बैठ गया हो...।" यदि परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने से रोकती हैं, तो वह गाँव में दिन या रात में अपने मन में (अर्थात् चुपचाप) उच्चारण कर सकता है, या यहाँ तक कि वन में जोर से कर सकता है (*TA* II 12,1)। साथ ही देखें, ऐतरेय आरण्यक (AitA) V 3,3. वैदिक ग्रन्थों के दैनिक पाठ को ब्रह्मन् की आराधना माना जाता है। मसलन, *SB* XI 5,6,3 : स्वाध्यायो वै ब्रह्म यज्ञस्।

[39] *Gautama-dharmasutra* (GauDhS) XVI 18, *Manu* IV 116, *Visnu-smrti* XXX 10. लेकिन यह भी याद रखने की आवश्यकता है कि विद्यार्थियों को अन्तेवासिन भी कहा जाता है, और कुछ लोगों के अनुसार इसका अर्थ है "गाँव के अन्त / किनारे पर रहना"; देखें ऊपर पृ. 96एफ़ (पुस्तक का पृष्ठ 96एफ़ ... अनु.)।

[40] *GauDhS* XVI 45, नित्यम् एव नगरे।

बचना चाहिए।"[41] बौधायन धर्मसूत्र II 3,6,33 में नगरीय जीवन के प्रति सामान्य अरुचि को अभिव्यक्त किया गया है "(यदि कोई यह सोचता है कि) जो व्यक्ति नगर में रहता है, और जिसका शरीर नगर की धूल से प्रभाहीन हो गया है और जिसकी आँखों और मुख में ऐसी धूल भर गई है, वह यदि खुद को संयमित रखे, तो उसे मुक्ति मिल जाएगी, — ऐसा सोचना सही नहीं है।"[42]

यह बात स्पष्ट है कि वैदिक युग के अन्तिम दौर में बहुत-से महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। बहुत-से गृह्यसूत्रों[43] में यह कहा गया है कि विद्यार्थियों को जलावन की लकड़ियों को एकत्रित करने के लिए सूर्यास्त से पहले "बाहर जाना" चाहिए (निष्क्रम्य)। इस सन्दर्भ में देवपाल की टीका[44] में जोड़ा गया, "गाँव से" (ग्रामाद्)। यह एक ऐसे समय की स्थिति के बारे में बताता है जब गाँव के भीतर ही शिक्षा दी जाने लगी थी। ईसवी की आरम्भिक शताब्दियों से हमें राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिए गाँवों (अग्रहार) के उल्लेख मिलते हैं। ये अपेक्षया बड़ी बस्तियाँ थीं जिन्हें कर मुक्त किया गया था और शैक्षणिक केन्द्रों के रूप में कल्पित किया गया था। हालाँकि प्रत्येक शिक्षक एक स्वतंत्र संस्था होता था, जिसके पास अपने विद्यार्थियों की जिम्मेदारी होती थी। यहाँ बौद्धों और जैनों के विहारों की तरह ही रिहाइश या बस्ती के भीतर ही शिक्षा दी जाती थी। आधुनिक समय में भी इसी तरह की व्यवस्था रही है। 1830 के दशक में केरल में नम्बूदरी ब्राह्मण और एडम के 1830 के दशक के अध्ययन के रिपोर्टों में बंगाल एवं बिहार के ग्रामीण शिक्षक बस्ती के भीतर छोटे निजी संस्थानों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे (और हो सकता है कि अभी भी वे ऐसा करते हों)। जहाँ तक मेरी जानकारी है कोई भी अब अध्ययन के लिए ऐसे स्थान पर नहीं जाता है, जहाँ वह "छत नहीं देख सकता हो।"

यद्यपि वैदिक अध्ययन बहुत-से वर्षों तक चलता था, पर यह बीच-बीच में स्थगित किया जाता था। अध्ययन का आरम्भ (छन्दसाम् उपाकर्मन् /उपाकरण) मानसून आने के कुछ सप्ताह बाद होता था (पहली बारिश के बाद बुआई होने के पश्चात् "जब पौधे उगने लगते हैं"[45])। ग्रीष्म ऋतु आने पर अध्ययन से छुट्टी मिल जाती थी (छन्दसाम् उत्सर्जन)। आज की तरह ही उस समय भी बारिश की तुलना में गर्मी अध्ययन के लिए ज्यादा बड़ी बाधा थी। अधिकांश लोग इस समय छत के नीचे रहते थे (तथा संन्यासी और भिक्षु इस समय यात्रा नहीं करते थे), और यह अध्ययन के लिए एक स्वाभाविक समय होता था।[46] अध्ययन के आरम्भ (यानी, आषाढ़, श्रावण, और भाद्रपद) और अन्त (यानी, पौष और माघ) के सन्दर्भ में अलग-अलग महीनों के उल्लेख के पीछे तीन कारण थे : पहला, भारतीय कैलेण्डर का परिवर्तनशील चरित्र, जिसमें राशियाँ और उनसे जुड़े महीने लगातार आगे बढ़ते रहे; दूसरा, उपमहाद्वीप में मानसून का धीरे-धीरे आगे बढ़ना, जो जून के आरम्भ में दक्षिणी भारत में शुरू होता है, और एक महीने के बाद पंजाब पहुँचता है; और

---

[41] अपस्तम्भ धर्मसूत्र (ApDhS) I 3,9,4, निगमेष्व अध्ययनम् वर्जयेत्।

[42] बृहदारण्यक उपनिषद धर्मसूत्र (BauDhS) II 3,6,33 :
पुर-रेणु-कुण्ठित-शरीरस् तत्-परिपूर्ण-नेत्र-वदनस् च ।
नगरे वसन् सुनियतात्मा सिद्धिम् अवापस्यतीति न तद् अस्ति ।।
तुलना के लिए देखें, *ApDhS* I 11,32,21 नगर-प्रवेशनानी वर्जयेत् "उसे (बार-बार) नगर में प्रवेश करने से बचना होगा।"

[43] *Manava-grhyasutra* (ManGS) I 1,15; *Katha-grhyasutra* (KathGS) I 29; *Laugdksi-grhyasutra* (LaugGS) I 30.

[44] *KathGS* और *LaugGS* पर उनकी टीका।

[45] सांखायन गृह्यसूत्र (SGS) IV 5,2, आश्वलायन गृह्यसूत्र (AsGS) III 4,2, और पारस्कर गृह्यसूत्र (ParGS) II 10,2 ओषधीनां प्रादुर्भावे; साथ ही देखें, मनु IV 95 और याज्ञवल्क्य I 142.

[46] हम प्राचीन आयरलैण्ड के रिवाज से तुलना कर सकते हैं, जहाँ प्रशिक्षण लेने वाला कवि पतझड़ और सर्दियों के दौरान अपने शिक्षक के साथ रहता था, और एक प्रमाण-पत्र के साथ वसन्त ऋतु में अपने लोगों के पास लौटता था। यह प्रशिक्षण छह से सात वर्षों तक चल सकता था (Osborn Bergin, *Journal of the Ivernian Society* 5 (1913), p. 157). एक ड्र्यूड पुजारी (Druid priest) की शिक्षा (डिसिप्लिना — disciplina, यह ब्रह्मचर्य के लिए लैटिन शब्द है) बीस वर्षों तक चल सकता था : Julius Caesar, *De bello Gallico* VI 14.

तीसरा, अलग-अलग ग्रन्थकारों द्वारा अध्ययन की अलग-अलग अवधियों का अनुमोदन करना, जिसमें चार माह से लेकर साढ़े छह माह तक की अवधि सम्मिलित थी।[47] हालाँकि, बहुत-से ग्रन्थकार इस "छोड़ने" (उत्सर्जन) को सिर्फ कुछ दिनों[48] की छुट्टी के रूप में देखते हैं और उसके बाद फिर से अध्ययन को आरम्भ करने पर बल देते हैं।[49] लेकिन बहुत-से अन्य इस "ग्रीष्म अवधि" के दौरान सहायक ग्रन्थों (वेदांग) के अध्ययन पर जोर देते हैं, जिसमें व्याकरण, निरुक्त (etymology), छन्द, आदि सम्मिलित हैं,[50] वहीं अन्य इस अवधि में किसी भी वेद सम्बन्धी नई सामग्री के अध्ययन की निन्दा करते हैं।[51]

मनु VI 98 में इन महीनों को इस तरह विभाजित करते हैं कि अमावस्या से पूर्णिमा तक हर महीने विद्यार्थी अभी तक अध्ययन किए गए वेद के पाठों की पुनरावृत्ति कर ले, और महीने के दूसरे भाग में सहायक ग्रन्थों का अध्ययन करे।[52] अपेक्षया बाद के सिर्फ दो ग्रन्थों में शुक्ल पक्ष में अर्थात् अमावस्या से पूर्णिमा तक वेदों के अध्ययन की अनुमति दी गई है।[53] यहाँ दिव्यावदान 489 में दर्ज किए गए बौद्ध व्यवहार से भी एक उल्लेखनीय आंशिक साम्यता है। आषाढ़ में बरसात के मौसम की शुरुआत में भिक्षु खुद को बौद्धिक कामों में लगा देते थे, और कार्तिक महीने में वे सीखी गई बातों और शंका वाले बिन्दुओं की समीक्षा करते थे।[54]

अध्ययन की अवधि के विस्तार की प्रवृत्ति स्पष्ट है, और यह शायद अध्ययन किए जाने वाले ग्रन्थों की संख्या के बढ़ने के कारण आवश्यक था। उत्सर्जन शब्द इस बात का मजबूत संकेत करता है कि वार्षिक अध्ययन मूल रूप से जनवरी या फरवरी में समाप्त होता था, जब कबीला या कम-से-कम इसके कुछ सदस्य एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाते थे।[55] अध्ययन में इस ब्रेक या अन्तराल के समय विद्यार्थियों को अभी तक पढ़ी गई बातों को दोहराने की अनुमति थी और बाद में इसका विस्तार करते हुए इसमें नए ग्रन्थों को पढ़ने या वेद के अध्ययन को और आगे बढ़ाने को भी सम्मिलित कर लिया गया। बाद में, उत्सर्जन का न्यूनतम उपयोग होने लगा और, अनुपयोगी होकर, इसने सारा अर्थ खो दिया। टीकाकार अष्टावक्र[56] ने यह लिखा है कि उनके समय में शायद ही कोई पुराने ग्रन्थों द्वारा निर्धारित समय पर उत्सर्जन का अनुष्ठान करता था, बारहवीं सदी में श्रीधर ने अपनी स्मृत्यार्थ-सार में यह घोषणा की कि "एक वर्ष तक वेद के

---

[47] कौशिक सूत्र 139 और 141 : तीन दिन से कम चार महीने; *ApDhS* I 3,9,2f.: साढ़े चार या पाँच महीने; *ParGS* II 11,10: साढ़े पाँच महीने; *SGS* IV 6,7f: साढ़े पाँच या साढ़े छह महीने; *AsGS* III 5,14: छह महीने।

[48] गोभिल गृह्यसूत्र (GoGS) III 3,1 If. उदग्-अयने च पक्षिणीं रात्रिम्; उभयत एके त्रि-रात्रम् "उत्तरायण के दौरान एक रात्रि के लिए और उसके पहले और बाद के दिन वे रुकते हैं (वे सूरज की प्रतीक्षा करते हैं); कुछ इसके पहले और बाद में तीन रात तक ऐसा करते हैं।" III, 3,17 एक "प्रति-आरम्भ" (प्रत्युपाकरण) के बारे में बताता है, जो एक ऐसे दूसरे दौर को शुरू करता है जिसके बाद अगले मानसून के मौसम में "दोहराए जाने वाली शुरुआत" (पुनर्-उपाकरण) आती है।

[49] *SGS* IV 6,9 अधीयीरंश्चेद, अहोरात्रम् उपरम्य प्राध्ययनम् "लेकिन यदि वे अध्ययन की इच्छा रखते हैं, तो एक दिन और एक रात के अन्तराल के बाद अध्ययन जारी रखा जाना चाहिए।"

[50] *VasDhS* XIII 6f. अत ऊर्ध्वं शुक्लेष्वधीयीत कामं तु वेदांगनी (इसी तरह वैखानस गृह्यसूत्र [VaikhGS] II 12) और *AsGS* III 5,23 पर टीका।

[51] *ApDhS* I 3,11,35, अनानूक्तं चापर्तौ छन्दसो नाधीयीत "छुट्टी के दिनों में वह वेद के किसी भी ऐसे हिस्से का अध्ययन नहीं करेगा, जिसे उसने पहले नहीं सीखा है।"

[52] मनु IV 98 अत ऊर्ध्वं तु च्छन्दाम्सि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ।*98*।
यहाँ IV 95 में अधीयीता "(नई अध्ययन सामग्री) का अध्ययन करें" और IV 98 में पठेत् "पाठ करना (पहले सीखी गई सामग्री का)" के बीच अन्तर पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

[53] *VasDhS* XIII अत ऊर्ध्वम् शुक्लपक्षेष्व अधीयीत और *VaikhGS* II 112: 31,3.

[54] तुलना के लिए देखें, K.A. Nilakantha Sastri, *Gleanings on Social Life from the Avadanas,* Calcutta 1945, pp. 36-38.

[55] यह वर्ष का सबसे कठिन समय होता है, जब पशु दुर्बल और झबरे हो जाते हैं : *KS* VI 2 and *AitB* IV 26,3.

[56] Astavakra's commentary on *Manava-grhyasutra* I 5,1, ed. Ramakrishna Harshaji Sastri, Baroda 1926 (*Gaekwad Oriental Series* [GOS] no. 35), repr. New Delhi 1982, p. 34.

अध्ययन के बाद उपाकर्मण के दिन उत्सर्जन किया जा सकता था या फिर नहीं किया जाए।"[57] आधुनिक समय में दोनों ही उत्सव एक ही दिन मनाए जाते हैं : पहला, अध्ययन वर्ष की समाप्ति होता है, और उसके बाद नए अध्ययन वर्ष का आरम्भ होता है।[58]

हमारे सूत्रों के समय (और उसके पहले के समय में) अध्ययन समय के विस्तार का आरम्भ होने से पहले या उत्सर्जन के बाद अध्ययन न करने का विकल्प चुनने वाले विद्यार्थी उत्सर्जन के बाद क्या करते थे? इस मसले पर पुराने ग्रन्थ खामोश हैं। सी कुन्हन राजा[59] ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वैदिक दौर में भारतीय अपने बच्चों को आठ वर्ष की नाजुक उम्र में एक शिक्षक के पास भेज देते थे, और फिर उनका अध्ययन समाप्त हो जाने के बाद, यानी 12 से 16 वर्षों के बाद, ही मिलते थे, तो निश्चित रूप से ये बच्चे अपने निर्माण वर्षों या बड़े होने की अवस्था तक अपने परिवारों से दूर रहते थे। क्या इसका अर्थ यह है कि "परिवारों में किशोर बालक या युवक नहीं रहते थे, और वहाँ सिर्फ छोटे बच्चे और बुजुर्ग ही रहते थे?" इनका यह मानना है कि शायद बच्चे अध्ययन के बीच में मिलने वाली छोटी और बड़ी छुट्टियों में घर जाते थे। विलियम एडम द्वारा 1836 में बंगाल की स्थिति के बारे में पर्यवेक्षण के बाद लिखी गई बातों से इस विचार को समर्थन मिलता है। प्रायः अध्ययन की बीस वर्ष की अवधि "विद्यार्थियों को मिलने वाले, या उनके द्वारा लिए जाने वाले अवकाशों या छुट्टियों के कारण कम हो जाती है। इस तरह की छुट्टियाँ अमूमन आषाढ़ से कार्तिक महीने तक होती हैं, या फिर जून के मध्य से नवम्बर के आरम्भ तक, और इनकी अवधि हर वर्ष चार से पाँच महीने की होती है। इसके अलावा, कई अन्य अवसरों पर छोटी छुट्टियाँ भी होती हैं। छुट्टी की मुख्य अवधि के दौरान वे विद्यार्थी अपने गाँवों को लौट जाते हैं जो उस गाँव के निवासी नहीं होते हैं, जहाँ वे अध्ययन कर रहे हैं। अकसर वे अपने घरों में अध्ययन जारी रखते हैं, लेकिन न तो एक नियमित अनुशासन के साथ और न ही पण्डित की निगरानी में।"[60] इसलिए यह मुमकिन है कि वैदिक काल में भी कुछ युवक (कम-से-कम वे जो घर पर ही अपने पिता के सान्निध्य में अध्ययन न कर रहे हों) अस्थाई रूप से घर लौटते होंगे। दूसरी ओर, राजस्थान विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने याद करते हुए यह बताया कि कैसे उनके माता-पिता ने उन्हें घर से चार सौ किलोमीटर दूर स्थित शिक्षक के परिवार के साथ रहने के लिए भेज दिया था, जो कि हिमालय की तराई में एक पवित्र स्थान पर निवास करता था। वे वहाँ दस वर्षों तक रहे, और छुट्टियों के दौरान साल में सिर्फ चार दिन अपने माता-पिता से मिलते थे। उन्होंने मुझे बताया कि "शिक्षक और उनकी पत्नी ही असल में मेरे माँ-बाप थे।" अर्थशास्त्र में बड़ी उम्र के लड़कों और वयस्क युवाओं के लिए लम्बी अवधि तक घर से दूर रहकर अध्ययन करने को स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था दी गई है कि "पत्नी उस ब्राह्मण का इन्तजार करेगी जो अध्ययन के लिए बाहर गया है, यदि उसका कोई बच्चा नहीं है तो वह दस वर्षों तक ऐसा करेगी, और यदि कोई बच्चा है तो बारह वर्षों तक इन्तजार करेगी।"[61]

यदि हम वैदिक दौर पर, विशेष रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों पर, विचार करते हैं तो हम बड़े विद्यार्थियों को अध्ययन के दौरान मिलने वाली छुट्टी या अवकाश की एक अन्य सम्भावना देख सकते हैं : क्या वे व्रात्य हो सकते हैं, जिनका वैदिक साहित्य में बार-बार उल्लेख मिलता है? ये छापामारों के समूह (bands of

---

[57] *Smrtyarthasara* ed. Anandasrama Press, Poona 1912, p. 11 quoted from Kane, *History of Dharmasastra* [HoDh], vol. II p. 817.

[58] Kane, *HoDh,* vol. II p. 817. के ए नीलकण्ठ शास्त्री (वही, पृ. 36) के शब्दों में, आधुनिक काल में "अध्ययन की शुरुआत" का अनुष्ठान "एक आत्मारहित कर्मकाण्ड बन गया है, इसमें भाग लेने वाले अधिकांश लोगों के लिए इसका अर्थ खो चुका है, जिसमें अनुष्ठान करवाने वाले पण्डित भी सम्मिलित हैं।"

[59] C. Kunhan Raja, *Education in Ancient India,* pp. 105f; cf. above pp. 99f (See p. 99f of the book … Trans.).

[60] *One Teacher, One School,* p. 79.

[61] कौटलीय अर्थशास्त्र ।।। 4,28; ब्राह्मणम् अधीयानम् दश-वर्षाणि अप्रजाता, द्वादश प्रजाता... आकांक्षेत। साथ ही देखें ऊपर पृ. 100 (पुस्तक का पृ. 100 ... अनु.), जहाँ नाभानेदिष्ठ का वैदिक प्रसंग वर्णित है।

aggressive raiders) थे जो बसे हुए वयस्कों को चुनौती देते थे। पहले की व्याख्याओं में इन्हें गैर-आर्य हमलावरों के रूप में देखा जाता था, लेकिन अब इस व्याख्या को त्याग दिया गया है। एच फ़ॉक इन्हें आर्यों के युवा “गरीब बन्धुओं” (‘young cousins’) के रूप में देखते हैं।[62] क्या ये छुट्टी के समय के वेद का अध्ययन करने वाले बड़े विद्यार्थी हो सकते थे?

क्या उनका नाम व्रात “सेना” व्रतों या “धार्मिक आचरणों की प्रतिज्ञाओं” (जो वेद के विद्यार्थियों के धार्मिक जीवन का एक भाग था) का पालन करने के कारण पड़ा था, या व्रात्य शब्द व्रत (“धार्मिक आचरणों की प्रतिज्ञा”) से बना था?[63] विद्यार्थियों के जीवन को जानबूझकर कठिन बनाया गया था तथा हर विद्यार्थी को व्रत रखने होते थे। कुछ व्रत तो आसान होते थे, मसलन सावित्री व्रत जिसे शिक्षा के आरम्भ में सावित्री मंत्र सीखने के लिए अनुष्ठान करना जरूरी था : इसमें उन्हें सूर्यास्त तक मौन खड़े रहने के साथ-साथ तीन दिन तक दूध, मसाला या नमक के बगैर भोजन करना होता था।[64] जब तीनों वेदों के ज्ञाता शिक्षक उपनिषदों की व्याख्या करते हैं तो विद्यार्थी (सन्दर्भ के अनुसार एक संन्यासी?) “पूरी तरह से मौन रहेगा; वह मुख को खोले बगैर दाँतों को जोड़कर ही केवल उतनी बात कह सकता है जितना आवश्यक हो।”[65] सोलह वर्ष की उम्र में[66] गो-दान हो जाने के बाद एक विद्यार्थी को और गूढ़ शिक्षा के लिए एक और उपनयन[67] या “मध्यवर्ती दीक्षा” (अवान्तर दीक्षा)[68] से गुजरना पड़ सकता था। इसके तहत नहाना, कंघी करना, दाँतों को साफ करना, पैरों को धोना, दाढ़ी बनाना, हस्तमैथुन, आदि प्रतिबन्धित हो सकते थे।[69]

तीन या चार वर्ष की इस अवधि में[70] विद्यार्थी से यह उम्मीद की जाती थी कि वह काले कपड़े पहने तथा गोपनीय और शक्तिशाली मंत्रों को याद करे। शाक्वर-व्रत बहुत कठिन था, और पूरे साल या बारह वर्षों तक भी इसका अनुपालन किया जाना था : इसमें दिन में तीन बार स्नान करना, काले कपड़े पहनना, काला भोजन करना, दिन में खड़े रहना, रात में बैठना, तथा बारिश होने पर कोई आश्रय न लेना सम्मिलित था।[71] इसमें वनों में कुछ समय गुजारना भी आवश्यक था।[72] इसी तरह की तैयारी[73] से ही नौ महानाम्नी मंत्रों को सीखा जा सकता था।[74] फ़ॉक[75] यह मानते हैं कि ये अभ्यास स्नातक होने के बाद (समावर्तन) किए जाते थे;

---

[62] Harry Falk, *Bruderschaft und Wurfelspiel,* Freiburg 1986.

[63] हॉवर द्वारा इस तरह की व्युत्पत्ति प्रस्तावित की गई थी। J.W. Hauer, *Der Vratya,* Stuttgart 1927, pp. 186f. and *Der Yoga. Ein indischer Weg zum Selbst,* 2nd ed., Stuttgart 1958, p. 34.

[64] *KhadGS* II 4,3 I f. तिष्ठेद् आस्तमयात् तूष्णीम्। त्रिरात्रं क्षार-लवणे दुग्धम् इति वर्जयेत्।

[65] *BauDhS* II 10,18,16, तत्र मौने युक्तस् त्रिविद्या-वृद्धैर् आचार्यैर्... दन्तैर् दन्तान् सम्धायान्तरमुख एव यावद्-अर्थ-सम्भाषी...

[66] देखें नीचे पृ. 298एफ (पुस्तक का पृष्ठ 298एफ़ ... अनु.)।

[67] *GoGS* III 1,10.

[68] *Katha-aranyaka* (KathA) III 198 (ed. and trans. Michael Witzel, Kathmandu 1974), pp. 72-75.

[69] *GoGS* III 1,20-26, स्नानम्। अवलेखन-दन्तप्रक्षालन-पादक्षालनानी। क्षूरकृत्यम्... स्वयं इन्द्रिय-मोचनम् इति। *JaiGS* I 16, इसमें जल में प्रवेश करने की अनुमति दी गई है लेकिन यह जल घुटनों तक ही होना चाहिए (नोर्ध्वं जान्वोर अपः प्रसनायात्)।

[70] *SGS* II 11,10-12; *JaiGS* I 16.

[71] *GoGS* III 2,20; *JaiGS* I 17; *KhaGS* II 5,22-27.

[72] *GoGS* III 2,38.

[73] वैकल्पिक रूप से, शिक्षक पहले से ही ग्रन्थ के कुछ हिस्सों (अर्थात् स्तोत्रीय मंत्र) को व्रत अनुष्ठान के पहले और दो तिहाई अवधि के बीत जाने के बाद पढ़ा सकते हैं, या वे अनुष्ठान के पूरा होने का इन्तजार भी कर सकते हैं : *GoGS* III 2,31-33 तृतीये चरिते स्तोत्रीयम् अनुगापयेद्, एवम् इतरे स्तोत्रीये, सर्वा वान्ते सर्वस्य।

[74] ये श्लोक ऐतरेय आरण्यक के चौथे आरण्यक में उद्धृत किए गए हैं। महानाम्नी मंत्र बहुत पुराने हो सकते हैं, और वन में रहस्य के रूप में पढ़ाए जाते हैं : *SGS* II 12,3 + 6 + 9; H. Oldenberg, *Sacred Books of the East* (*SBE*) XXIX pp. 155f. *Abhandungen der Koniglichen Gesellschaft der* (AGWG) 1915, pp. 375-381; J. Gonda, *Vedic Literature,* p. 317.

[75] H. Falk, *Bruderschaft und Wurfelspiel*, p. 67.

लेकिन यह विचार सही नहीं लगता है। गृह्यसूत्रों में इनका उल्लेख स्नातक समारोह से पहले होता है — इनका समय सामान्य शिक्षा के बिलकुल अनुपूरक के रूप में ही होता है : जहाँ विद्यार्थी मानसून आने से लेकर शीतकालीन संक्रान्ति तक सामान्य पाठ्यक्रम का अनुसरण करते थे, वे वर्ष के अन्य हिस्से में विशेष व्रतों का अनुपालन करते थे (सूर्य के "उत्तर की ओर जाने" — उदग्-अयन का समय)।[76] एच फ़ॉक[77] ने वनों में इन अनुष्ठानों को एक ओर आक्रामक व्रात्य टुकड़ियों, और दूसरी ओर आरण्यकों के रहस्यवाद से जोड़ा है। हालाँकि इसकी बारीकियाँ अस्पष्ट हैं, और इसपर कई तरह की अटकलें लगाई जा सकती हैं।

गृह्यसूत्रों में चार वेद-व्रतों का वर्णन हैं, लेकिन अलग-अलग ग्रन्थों में उनके भिन्न नाम बताए गए हैं : महानाम्नी व्रत, महाव्रत, गोदान व्रत, औपनिषद व्रत, आदित्य व्रत, इत्यादि।[78] प्रत्येक व्रत वेद अध्ययन के एक खण्ड के लिए तैयारी था : व्रातिक व्रत आरण्यकों के अध्ययन से पहले, और औपनिषद व्रत उपनिषदों के अध्ययन से पहले किया जाता था, इत्यादि। "तीन (प्रकार के) स्नातक हैं : विद्या स्नातक, व्रत स्नातक और विद्याव्रत स्नातक। जो अपनी व्रत की अवधि पूरी होने से पहले वेद का अध्ययन पूरा कर ले, और 'घर लौटे', वह ज्ञान स्नातक होता है। जो अपनी व्रत की अवधि के खत्म होने के बाद किन्तु वेद के अध्ययन के पूरा होने से पहले 'घर लौटता' है, वह व्रत स्नातक होता है। जो इन दोनों को खत्म करने के बाद घर लौटता है, वह ज्ञान और व्रत स्नातक होता है।"[79]

आषाढ़ (या कोई अन्य महीना : ऊपर देखें) की पूर्णिमा (या पंचमी) पर अध्ययन की शुरुआत और अध्यापन की प्रगति शुभ दिनों के उपयोग तथा अशुभ दिनों से बचने से तय होती है। अमावस्या और पूर्णिमा के दिनों तथा चन्द्रायन पंचांग की अन्य तयशुदा तिथियों, और देवताओं को समर्पित कुछ अन्य निश्चित दिनों पर विशेष छुट्टियाँ मनाई जाती हैं। कुछ खास तरह की मौसमी परिघटनाओं, राजनीतिक अशान्ति या राजा की मृत्यु (या उनके परिवार में किसी के जन्म या मृत्यु के कारण कुछ वक्त के लिए राजा के अशौच होने), विद्यार्थी के परिवार में किसी का देहान्त होने, या उल्लू या अन्य गीदड़ जैसे जानवरों की परेशान करने वाली आवाजों या वाद्य यंत्रों के बजने और राग के गायन से भी अध्ययन बाधित होता है (इसे अनध्याय माना जाता था)।[80] कुछ रुकावटें छोटी अवधि की होती हैं, और जब रुकावटें समाप्त हो जाती हैं तो अध्ययन आरम्भ हो जाता है। लेकिन कई रुकावटें एक दिन या उससे भी ज्यादा समय तक कायम रह सकती हैं।[81] जब एक साथी छात्र यात्रा पर होता है, तो बाकी लोगों के लिए भी वह पाठ तब तक रोक दिया जाता है, जब तक वह वापस नहीं आ जाता।[82] इस तरह उस विद्यार्थी के पीछे छूटने या शिक्षक को एक ही पाठ दो बार

---

[76] *SGS* II 11,5 उदग्-अयने शुक्ल-पक्षे "उत्तरायण के शुक्ल पक्ष में।"

[77] Harry Falk, *Bruderschaft und Wurfelspiel,* pp. 67-71.

[78] *GoGS* III 1,28; *SGS* II 11,1-12,18; Kane, *HoDh,* vol. II pp. 370-373.

[79] *ParGS* II 5,32-35, त्रयः स्नातका भवन्ति विद्या-स्नातको व्रत-स्नातको विद्या-व्रत-स्नातक इति। समाप्य वेदम् असमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्या-स्नातकः समाप्य व्रतम् असमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रत-स्नातकः। उभयम् समाप्य यः समावर्तते स विद्या-व्रत-स्नातक इति।

[80] यद्यपि *ApDhS* I 3,10,19 (और याज्ञवल्क्य I 148) सिर्फ "गायन" (सामन) की बात करता है, लेकिन वास्तव में इशारा सामवेद के लिए हो सकता है क्योंकि निम्नलिखित सूत्र I 3,10,20 है : शाखान्तरे च सामनाम् अनध्यायः। "यदि एक अन्य शाखा (एक अन्य वेद को निकट पढ़ा जाएगा, तो) गायन का कोई अध्ययन नहीं होगा।" मनु IV 124 एक सन्देहास्पद व्याख्या प्रस्तुत करता है कि सामवेद पितरों के लिए पवित्र होने के कारण अशुद्ध है; यह मेधातिथि को उचित नहीं लगा जो कहता है कि सामवेद वास्तव में अशुद्ध नहीं है लेकिन इस सन्दर्भ में ऐसा माना जाना चाहिए। इसका सम्भावित कारण यह है कि गायन, या कोई भी संगीत विद्यार्थी की एकाग्रता को भंग करता है।

[81] भवभूति के नाटक का छात्र पात्र सौधातकि खुश हो जाता है जब कुछ गणमान्य लोगों के आने से अध्ययन रुक जाता है। (उत्तर-राम-चरित, भाग IV का आरम्भ)।

[82] *ApDhS* I 3,11,11 [6 न तद्... अधीयीत] विप्रोष्य च समध्ययनं तद् अहः और *GauDhS* II 7,33 (XVI 33) विप्रोष्य चान्योन्येन सह।

पढ़ाने से बचाने का उपाय किया जाता है। अध्ययन में रुकावट या बाधा आने से सिर्फ नए वैदिक पाठों के सीखने की प्रक्रिया बाधित होती है,[83] लेकिन पहले से सीखे गए ग्रन्थों को दोहराना, उनका कर्मकाण्डीय उपयोग जारी रखा जा सकता है,[84] और गैर-धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जा सकता है।[85] एक टीका के अनुसार, अथर्ववेद VII 66 में बादल होने, या हरा जौ दिखने, या गायों के निकट होने, आदि जैसी गलत परिस्थितियों में अध्ययन के कारण खो गए पाठों को फिर से प्राप्त करने के लिए एक मंत्र बताता है : "यदि अन्तरिक्ष में, यदि हवा में, यदि वृक्षों में, या फिर झाड़ियों में — जो पशु ने सुना हो — वह ब्राह्मण हमारे पास फिर से वापस आ जाए।"[86]

जब एक शिक्षक के पास बहुत-से विद्यार्थी होते थे, तो उनके बीच पदसोपान (hierarchy) भी हो सकता था। इस व्यवस्था में एक वरिष्ठ विद्यार्थी का सम्मान होता था और वह अमूमन अपने कनिष्ठ साथी विद्यार्थियों की सहायता करता था। ऐसा उस समय ज्यादा होता था जब शिक्षक एक वरिष्ठ विद्यार्थी को अपने साथ सहायक शिक्षक के रूप में काम करने के लिए नियुक्त करता था।[87] इस कनिष्ठ शिक्षक (इसे बाद के व्याकरण साहित्य में आचार्य-देशीय या "तकरीबन शिक्षक" के रूप में वर्णित किया गया)[88] की भूमिका शिक्षक और विद्यार्थी के बीच एक मध्यवर्ती स्तर के रूप में होती थी, जिसके बारे में महाभाष्य में काफी चर्चा की गई है। दुर्भाग्यवश, पतंजलि ने वरिष्ठ और कनिष्ठ शिक्षकों के बयानों में अन्तर नहीं किया, जो बाद में कई टीकाकारों के लिए अन्तहीन वाद-विवाद का कारण बना। ये टीकाकार अपने मनपसन्द उत्तर को वरिष्ठ शिक्षक की अन्तिम राय (सिद्धान्त) के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, और अन्य विचारों को आरम्भिक किस्म के और केवल आंशिक रूप से सन्तोषजनक लगने वाले आचार्य-देशीय से सम्बन्धित मानते हैं। ऐसे बहुत-से मामलों में पतंजलि के दिमाग में इस तरह का कोई अन्तर नहीं था,[89] और कई बार आखिरी उत्तर शिक्षक का आधिकारिक विचार नहीं होता है (या यह पतंजलि के विचार को अभिव्यक्त नहीं करता है)।[90] यद्यपि टीकाकारों द्वारा महाभाष्य की चर्चाओं में विभिन्न विचारकों

---

[83] *ApDhS* I 4,12,9, विद्यां प्रति अनध्यायःश्रूयते न कर्म-योगे मंत्राणाम्।

[84] *Apastamba-srautasutra* (ApSS) XXIV 1,37; *Mimamsa-sutra* XII 3,19; *ApDhS* I 4,12,9.

[85] मनु II 105, वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधो स्ति अनध्याये होम-मंत्रेषु चैव हि ।*105*।
"अनुपूरक ग्रन्थों और नियमित पाठ के सन्दर्भ में रुकावट के दौरान कोई प्रतिबन्ध नहीं है, न ही किसी हवन में उपयोग में लाए जाने वाले मंत्रों के सन्दर्भ में कोई प्रतिबन्ध है।" अनध्याय के स्थान पर जैन असज्झाय (सं. अस्वाध्याय) की बात करते हैं। कुंजियों (हैण्डबुक) का सामान्य अध्ययन किया जा सकता है, लेकिन उस दौरान प्रतिष्ठित आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए : Nalini Balbir, *Proc. XXXII Intern. Congress for Asian and North African Studies, Hamburg,* Stuttgart 1992, pp. 522f. वे आगे कहती हैं : "थेरवाद बौद्ध स्रोतों ने जानबूझकर अनध्याय पर विचार करने से परहेज किया है।"

[86] अथर्ववेद (AV) VII 66 यदि अन्तरिक्षे यदी वात आस यदि वृक्षेसु यदि वोलापेषु ।
यद् आश्रवन पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनर् अस्मान उपैतु ।।
(अनुवाद W.D. Whitney); यहाँ ब्राह्मण एक धार्मिक ग्रन्थ या किसी प्रकार की उद्घोषणा को दर्शाता है।

[87] *ApDhS* I 2,7,28f. [27... आचार्यवद् वृत्तिः] तथा समादिष्टे अध्यापयति। वृद्धतरे च ब्रह्मचारिणि। "[वह शिक्षक के प्रति जैसे व्यवहार करेगा] और उसके प्रति भी ऐसा ही व्यवहार करेगा जो नियुक्त होने पर उसे सिखाता है; और वह एक वरिष्ठ विद्यार्थी के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करेगा।" साथी विद्यार्थियों का उल्लेख *GoGS* III 2,46 और *JaiGS* I 14 में किया गया है। साथ ही देखें उपरोक्त पृ. 80, 126 (पुस्तक का पृष्ठ 80, 126 ... अनु.)।

[88] जैसे पाणिनी V 4 105, वार्त्त. 3 पर महाभाष्य पर कैयट का प्रदीप (Kaiyata's Pradipa)। उन्नीसवीं सदी के बंगाल में इस सहायक को सरदार पोडो "हेड बॉय" कहा जाता था : N.L. Basak, *Vernacular Education in Bengal (1800-1854),* Calcutta 1974, pp. 41f.

[89] मीमांसा की शैली में पतंजलि अकसर वरीयता का संकेत दिए बिना विकल्पों की एक सूची प्रदान करते हैं।

[90] मसलन, महाभाष्य II 60.6-11; साथ ही देखें H. Scharfe, *Grammatical Literature,* Wiesbaden 1977, p. 156 and OLZ 74 (1979), col. 518.

(*dramatis personae*) को इस तरह चिह्नित करना अकसर सन्देहास्पद होता है, लेकिन इस प्रकार की चर्चा, जिसकी कल्पना इस परम्परा में की गई है, काफी विश्वसनीय है और यह पारम्परिक स्कूल की प्रक्रियाओं के बारे में हाल के विवरणों से पुष्ट होता है : विद्यार्थी व्याख्या के कठिन बिन्दुओं पर प्रश्न पूछते हैं, अन्य विद्यार्थी उनका उत्तर देने का प्रयास करते हैं, कनिष्ठ शिक्षक एक बेहतर उत्तर देते हैं, लेकिन इससे फिर भी पूरी तरह से सही समाधान नहीं होता है, और अन्त में आचार्य, स्कूल के मास्टर, सामने आते हैं, और अन्तिम तथा सही उत्तर (सिद्धान्त) देते हैं। यही उन्हें सिद्धान्तिन बनाता है।[91] ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी यात्री इत्सिंग ने सातवीं शताब्दी में यह संकेत दिया है कि नालंदा और वलभी बौद्ध विश्वविद्यालयों के वरिष्ठ विद्यार्थी खुद अध्ययन करने के साथ ही साथ युवा विद्यार्थियों को पढ़ाने का काम भी करते थे।[92] तमिल व्याकरण नन्नूल के तेरहवीं शताब्दी के लेखक पवणन्दि (Pavananti) ने यह रेखांकित किया कि अपने विषय की समझ के लिए एक युवा विद्वान के लिए विद्वत्तापूर्ण अन्तःक्रिया और शिक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है : "हालाँकि उसने एक शिक्षक के सभी शिक्षणों को पूरी तरह आत्मसात किया है, लेकिन इसके बावजूद वह केवल एक चौथाई सीखने तक ही पहुँच पाएगा। विद्वान सहयोगियों (सह-विद्यार्थियों) के साथ जुड़कर एक और चौथाई हासिल किया जा सकता है, और ठीक से पढ़ाकर (अर्थात् सार्वजनिक और निजी रूप से) दो चौथाई हासिल किया जा सकता है; (इस तरह) दोष-रहित ज्ञान की उत्कृष्टता स्वयं प्रगट होगी।"[93]

विस्तृत नियम शिक्षक और विद्यार्थी के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। शिक्षक को पूर्व या उत्तर (या शायद उत्तर-पूर्व) की ओर मुँह करके साफ जमीन पर बैठना चाहिए, कुछ लेखकों के अनुसार विद्यार्थी (या दो विद्यार्थियों) को शिक्षक के दाहिनी तरफ उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठना चाहिए; यदि विद्यार्थियों की संख्या तीन या उससे अधिक हो तो उन्हें उपलब्ध जगह के अनुसार बैठना चाहिए :[94] इसका मतलब यह है कि शिक्षक और विद्यार्थी आमने-सामने नहीं हो सकते थे।[95] हालाँकि बहुसंख्यक प्राधिकारियों (अधिकांश ग्रन्थकारों) के अनुसार शिक्षक और विद्यार्थी को अग्नि के उत्तर में एक दूसरे के आमने-सामने बैठना चाहिए : इसमें शिक्षक पूर्व की ओर मुँह करते हैं, और विद्यार्थी पश्चिम की ओर।[96]

---

[91] D.H.H. Ingalls, in *Traditional India,* ed. M. Singer, Philadelphia 1959, p. 5.

[92] I-tsing, *Record*, p. 177.

[93] *Nannul* 44f. *acan uraittat-amaivara kkolinum kar kur-allatu parralan akum. A-vvinai-y-alarodu payil vakai-y-orukal cevvitin uraippa a-v-irukal-um mai-y-aru pulamai manp-udaitt-akum*. दक्षिण भारत के हरदत्त (Buhler, *SBE* II p. xliii : सोलहवीं सदी। यदि वह उस व्याकरणविद् से अभिन्न है तो शायद ग्यारहवीं सदी में रहा हो : G. Cardona, *Panini, A Survey of Research,* The Hague 1976, p. 281) ने *ApDhS* I 1,7,29 पर अपनी टीका में इसी तरह का एक श्लोक दिया है : आचार्यात् पादम् आदत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादः कालेन पठ्यते ।। "विद्यार्थी एक चौथाई अपने शिक्षक से प्राप्त करता है, एक चौथाई अपनी बुद्धि से, एक चौथाई अपने साथी विद्यार्थियों से, तथा एक चौथाई समय के साथ सीखता है।"

[94] *SGS* IV 8,2-4 (इसी तरह VI 3,2) प्रान् वोदन् वासीन आचार्यो दक्षिणत उदन्-मुख इतरः द्वौ वा भूयांसस् तु यथावकाशम्, *ApDhS* I 2,6,24f; एकाध्यायी दक्षिणं बाहुं प्रति उपसीदेत्। यथावकाशं बहवः, और ऋग्वेद प्रतिशाख्य XV 2एबी एकः श्रोता दक्षिणतो निषीदेद् द्वौ वा भूयांसस् तु यथावकाशम्। Cf. *Hiranya-grhyasutra* (HirGS) I 6,10. दीक्षा के दौरान भी शिक्षक और विद्यार्थी की यह स्थिति होती है, लेकिन *SGS* II 1,28 और *HirGS* I 2,6 के अनुसार वे सावित्री और वेद की शिक्षा के लिए एक दूसरे का सामना करते हैं, और *SGS* II 7,3 के अनुसार वे सामान्य रूप से वेद का अध्ययन करने के लिए एक दूसरे का सामना करते हुए बैठते हैं। ध्यान दें कि *SGS* में शिक्षक (आचार्य) और "अन्य" (इतर) अर्थात् छात्र एक दूसरे के विपरीत कैसे हैं।

[95] *ApDhS* I 2,6,20 अभिमुखो 'नभिमुखम् "वह शिक्षक की ओर अपना मुँह फेर लेगा, हालाँकि शिक्षक उसकी ओर नहीं मुड़ता।" पहले से ही *SB* XI 5,4,14 ने इस प्रथा पर आपत्ति जताई थी "यदि कोई कहे कि 'आचार्य ने ब्रह्मचारी को तिरछा जाना। वह उसके विरुद्ध हो जाएगा,' तो ऐसा ही होगा। इसलिए इस प्रकार उपदेश करना चाहिए कि आचार्य पूर्वाभिमुख हो और ब्रह्मचारी पश्चिमाभिमुख उसकी ओर देख रहा हो।"

[96] *GoGS* II 10,35f. उदन् अग्नेर उत्सृप्य प्रान् आचार्य उपविशति... प्रत्यन् माणवको... अभिमुख आचार्यम्; *KathGS* 41,20 प्रान्-आसीनः प्रत्यन्न-आसीनाय; *AsGS* I 20,2f. ...प्रान्-मुख आचार्यो अवतिष्ठते। पुरस्तात् प्रत्यन्-मुख इतरः; cf. *Manu* II

छात्र / विद्यार्थी को शिक्षक से ऊपर या वैसे ही आसन पर नहीं बैठना चाहिए। उसे अपने घुटनों को बाँहों से पकड़े बिना और किसी पर झुके बिना पालती मारकर बैठना चाहिए।[97] ऐसे विद्यार्थी के बैठने के तरीके का वर्णन इस प्रकार है : उसके हाथ ब्रह्मांजलि मुद्रा में हों, अर्थात् बाईं हथेली ऊपर की ओर खुली हो और दाहिना हाथ उसपर नीचे की ओर रखा हो और प्रत्येक हाथ की उँगलियाँ दूसरे हाथ के पृष्ठ भाग को मजबूती से पकड़े हुए हों; दोनों हाथ घुटनों पर टिके हुए हों तथा उनके बीच पवित्र कुशा हो।[98] प्रत्येक सत्र के आरम्भ और अन्त में उन्हें श्रद्धापूर्वक शिक्षक का चरण स्पर्श करना चाहिए : दाहिने हाथ से दाहिना पैर और बाएँ हाथ से बायाँ पैर हाथों को क्रास (arm cross) करके स्पर्श करना चाहिए।[99]

अध्ययन सत्र की शुरुआत में अग्नि में विभिन्न प्रकार की आहुति, मंत्रों का पाठ, और अन्य शुभ कार्य होते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी जौ के तले हुए दाने और दही खाते हैं, एवं पानी का आचमन करते हैं। अन्त में शिक्षक और विद्यार्थी एक साथ पाठ करते हैं : "(वेद) हम दोनों का हो, यह हम दोनों की रक्षा करे; यह ब्रह्मन् हम दोनों के लिए शक्तिशाली हो; इंद्र जानते हैं (और इसलिए हमें वह सिखाएँ), जिससे हम एक दूसरे से नफरत नहीं करें।"[100] अध्ययन (अनुवचन, जिसका शाब्दिक अर्थ है "पाठ करना, बाद में बोलना, दोहराना") के वास्तविक रूप से शुरू होने से पहले एक या तीन दिन का अन्तराल होता है। जब (इस सन्दर्भ में अधिकांश ग्रन्थकारों के अनुसार) शिक्षक और विद्यार्थी एक दूसरे के सामने बैठते हैं तो विद्यार्थी के हाथ में कुशा होता है, वह उन्हें अपने हाथों में ब्रह्मांजलि मुद्रा में पकड़ता है, तथा शिक्षक उन्हें अपने बाएँ हाथ से पकड़ता है और दाहिने हाथ का उपयोग करके उनपर पानी छिड़कता है। फिर उनकी आज्ञा पर विद्यार्थी अनुरोध करता है कि "भो, सावित्री का पाठ करें।" शिक्षक जवाब देता है कि "मैं तुम्हारे लिए सावित्री का पाठ करता हूँ।"[101] इसी तरह, विद्यार्थी शिक्षक से गायत्री[102], ऋषियों के नाम, छन्दों के नाम, आदि का पाठ करने का अनुरोध करते हैं, और शिक्षक सहमत हो जाते हैं। "इस तरह प्रत्येक स्तुति का उसके ऋषि, देवता और छन्द के अनुसार, पाठ करना चाहिए।"[103]

192f. *ParGS* II 3,3f. ...प्रान् मुखाय... समीक्षमानाय समीक्षिताय. दक्षिणतस् तिष्ठत आसीनाय वैके भी साथ-साथ की स्थिति जानता है।

[97] बौद्ध भिक्षु उपाली ने श्रोताओं में मौजूद वरिष्ठ भिक्षुओं के सम्मान में खड़े होकर शिक्षा दी और वे सिखाए गए सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा से खड़े होकर सुनते थे। कहा जाता है कि तब बुद्ध ने आसनों के उपयोग के सम्बन्ध में विस्तृत नियम पेश किए थे : कितनी ऊँचाई, कितनी लम्बाई, और उनपर बैठने का अधिकार किसे था : चुल्लवग्ग (Cullavagga) VI, 13.

[98] *SGS* II 7,5. ...कुश-तरुणान् दक्षिणोत्तराभ्याम् पाणिभ्याम् मध्ये परिगृह्य "तरुण कुशा को दोनों हाथों में थामते हुए — दाहिना हाथ ऊपर होना (उनके बीच कुशा को रखना)"; हरदत्त की टिप्पणी के साथ *AsGS* III 4,7; मनु II 71; cf. Kane, *HoDh,* vol. II p. 326 fn. 786 with a reference to Mitramisra's *Viramitrodaya*, *Samskara-prakasa* p. 524.

[99] मनु II 72 व्यत्यस्त-पाणिना कार्यम् उपसम्हरणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ।*72*।
"हाथों को आर-पार करके उसे शिक्षक के पैर पकड़ना चाहिए तथा बाएँ पैर को अपने बाएँ हाथ से तथा दाहिने पैर को अपने दाहिने हाथ से स्पर्श करना चाहिए।" और विष्णु-स्मृति 28,15 तस्य च व्यत्यस्त-करः पादाव् उपस्पृशेत् "और वह उनके पैरों को आर-पार किए हाथों से छूएगा।" इसका तात्पर्य उस स्थिति से है, जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं। Cf. *ApDhS* I 2,5,21-23 and *BauDhS* I 3,25 and 28 and *GauDhS* I 52f.

[100] *ParGS* II 10,22, सर्वे जपन्ति सह नो स्तु, सह नो वतु, सह न इदं वीर्यवद् अस्तु ब्रह्म, इन्द्रस् तद् वेद, येन यथा न विद्विषामह इति। *JaiGS* I 14 (p. 14,5f) के समान।

[101] *SGS* II 7,8f. "सावित्रीं भो अनु ब्रूहीति" इतरः "सावित्रीं ते अनु ब्रवीमीति" आचार्यः। अनु-ब्रू के अर्थ के लिए L. Renou, *EVP* 4 (1958), p. 72 देखें।

[102] दरअसल, एक ब्राह्मण लड़के के लिए सावित्री एक गायत्री हैं (क्षत्रिय और वैश्य अन्य मंत्र पढ़ सकते हैं); इसलिए *SGS* में एक के बाद एक दोनों अनुरोधों का होना सही नहीं होगा।

[103] *SGS* II 7,18 एवं एवं ऋषेर् यस्य यस्य यो यो मंत्रो यद्-देवत्यो यच्छन्दस च तथा तथा तं तं मंत्रम् अनुब्रूयात्। यह अतिरिक्त जानकारी अनुक्रमणी से मेल खाती है जिसकी जानकारी कुछ मामलों में काफी प्रासंगिक लगती है : H. Lommel, in *Beitrage zur indischen Philologie und Altertumskunde* (Fs. W. Schubring), Hamburg 1951, pp. 32-38.

अधिकांश ग्रन्थों में शिक्षण को संक्षिप्त अनुरोध के साथ शुरू करने के लिए कहा गया है : अधीहि भो: "महोदय शिक्षित करें!"[104] और पाठ विद्यार्थी के यह कहने के साथ समाप्त होता है : विरतास्म भोः "महोदय, हमने समाप्त कर लिया है!"[105] सांखायन गृह्यसूत्र ॥ 5,10f. पर एक टीकाकार नारायण[106] यह दावा करते हैं कि अधीहि भोः शिक्षक के शब्द हैं; उनके ऐसा मानने का कारण शायद यह है कि उन्हें यह अनुचित लगा कि छात्र कक्षा शुरू करने की पहल करते हैं।[107] ओल्डेनबर्ग[108] और काणे[109] ने इस सुझाव को खारिज कर दिया है : वैदिक ग्रन्थों[110] में ऐसे प्रसंग हैं जहाँ एक ऋषि किसी देवता से अधीहि भगवः कहते हैं, और कई सूत्रों में सन्दर्भ से स्पष्ट है कि विद्यार्थी ही यह कह रहा है,[111] और अधीहि "सिखाओ!" (कर्तृ वाच्य में)[112] तथा अधीष्व "सीखो!" (मध्य वाच्य या आज्ञार्थ में) के बीच एक स्पष्ट अन्तर है।[113] विद्यार्थी ने जिस तरह शिक्षक से आरम्भ करने के लिए कहा, उसी तरह उसने "हम समाप्त कर चुके हैं, भो!" कहकर पाठ को समाप्त करने का अनुरोध भी किया। हालाँकि कुछ विद्वान यह मानते हैं कि पाठ की समाप्ति विसृष्टम्, विरामस् तावत् अर्थात् "विसर्जन! और तब तक आराम!" के साथ होती है।[114] शिक्षक द्वारा बोले जाने पर ये शब्द उचित होंगे; ग्रन्थ में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता है कि वक्ता कौन है। सीखी गई बातों को याद रखने की प्रार्थना के साथ पाठ को समाप्त किया जा सकता है। "अब हर बार पाठ के बाद उसे भुलाए जाने से रोकने के लिए (विद्यार्थी को कहना चाहिए) : मेरा मुँह कुशल हो; मेरी जीभ से मधुर-मीठी बोली निकले। मैंने कानों से बहुत कुछ सुना है; जो कुछ मैंने सुना है, जो कुछ मुझमें वास करता है, उसे दूर न करना... मैं स्वरों का उच्चारण करने, उत्पन्न करने, कण्ठक, वक्षस्त्राण, दन्तक, और तालु सम्बन्धी

---

[104] *SGS* IV 8,12.

[105] *SGS* IV 8,16.

[106] Quoted from Oldenberg's note in his translation in *SBE* XXIX p. 67 fn.

[107] Mookerji, *Education,* p. 188 में एक ऐसी परम्परा का दावा करते है जिसके अनुसार, "विद्यार्थी शिक्षक से पाठ शुरू करने का अनुरोध नहीं करेगा," लेकिन वे इस बारे में कोई सन्दर्भ नहीं देते हैं। उन्होंने शायद *ApDhS* I 2,5,26 आहूतध्यायी च स्यात् और *GauDhS* II 35 आहूतो ध्यायी के बारे में सोचा था। "वह (शिक्षक द्वारा) बुलाए जाने के बाद अध्ययन करेगा।" हालाँकि जैसा कि जी ब्यूह्लर (G. Buhler) टिप्पणी करते हैं यह निषेधाज्ञा पाठ की शुरुआत को सन्दर्भित नहीं करती है ("और यह शिक्षक से पाठ शुरू करने का अनुरोध नहीं करते हैं," देखें, *SBE* II pp. 22 and 187; हालाँकि उनके नियमों की संख्या थोड़ी भिन्न है।) उल्टे इसमें सन्दर्भ है शिक्षक द्वारा निमंत्रण कि वे उनके साथ बैठकर अध्ययन करें। इस सन्दर्भ में हरदत्त की उज्ज्वला जो *ApDhS* I 2,5,26 (नाध्यापने स्वयं प्रवर्तयेत्) पर टीका है और *GauDhS* II 35 पर उनकी टीका मिताक्षरा (गुरुणाहूतः सन्न अधीयेत न तु स्वयं चोदयेत्) देखी जा सकती है। साथ ही देखें, विष्णु-स्मृति XXVIII 6 आहुताध्ययनम् "जब बुलाया जाए तब अध्ययन करना।"

[108] H. Oldenberg, *SBE* XXIX, p. 67 fn.

[109] Kane, *HoDh,* vol. II p. 326 fn. 784.

[110] *Taittiriya-upanishad* (TaitU) III 1 and *Chandogya-upanisad* (ChU) VII 1,1.

[111] *SGS* VI 3,6; *GoGS* II 10,38; *GauDhS* I 49; *Rgveda-pratisakhya* XV 2cd
ते धीहि भोः इति अभिचोदयन्ति गुरुं शिष्या उपसंगृह्य सर्वे ।*2*।
"ये सभी विद्यार्थी (उनके पैर को) छूते हुए आग्रह करते हैं : 'पाठ करो, श्रीमान्।' "

[112] वी एस सुकथंकर (V.S. Sukthankar) महाभारत के अरण्यपर्वन के अपने संस्करण में इस शब्द का अलग-अलग पाठ देते हैं। III 135,22 में कर्तृ वाच्य अधीहि को चुना है जबकि कई पाण्डुलिपियों में अधीष्व है, वहीं III 197,35f में अधीयात् की जगह आज्ञार्थ अधीयीत को चुना था। दोनों सन्दर्भ में आज्ञार्थ स्वर सही होता है क्योंकि सन्दर्भ में छात्र है।

[113] *AsGS* I 18,4 ...उपसंग्रह्य ब्रूयाद् अधीहि भोः सावित्रीम् "(पैरों) को पकड़ते हुए कहेंगे : 'सावित्री का पाठ करो, श्रीमान्।' " और I 19,1 ब्रह्मचारी असि... आचार्याधीनो वेदम् अधीष्व "तुम एक विद्यार्थी हो, आचार्य के अधीन होकर वेदाध्ययन करो।"

[114] *SGS* IV 8,17 'विसृष्टम्; विरामस् तावद् इति' एके।

व्यंजनों को धारण करने और उच्चारण करने में समर्थ हो जाऊँ... जो कुछ मैंने सुना और पढ़ा है, वह मेरे मन में स्थिर हो जाए।"[115]

वेद के प्रत्येक विद्यार्थी को उन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए निर्देशित किया गया था जो उसके परिवार में मौजूद थे : एक ऋग्वेदिन का पुत्र ऋग्वेद का अध्ययन करेगा, तैत्तिरीय यजुर्वेदिन के घर पैदा हुआ लड़का कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करेगा। ऐसा होना तब स्वाभाविक था जब लड़के के पिता ही उसके शिक्षक थे, लेकिन वैदिक ग्रन्थों में ऐसा स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया था; केवल बाद में, मध्य युग में हमें ऐसे कथन मिलते हैं कि किसी को अपने पूर्वजों की परम्परा (शाखा) का अध्ययन और अभ्यास करना चाहिए — यहाँ तक कि किसी अन्य को न सीखे।[116] एक शाखा से दूसरी शाखा में जाने की अनुमति तभी दी जाती थी जब किसी के अपनी शाखा में कुछ धार्मिक संस्कार छूट गए हों, और वे दूसरी शाखा में मौजूद हों; बशर्ते वह उसकी अपनी शाखा की शिक्षाओं के विरुद्ध न हो। हालाँकि अधिकांश प्राधिकारी यह मानते हैं कि यदि अपनी परम्परा पहले से सीखी गई हो तो अन्य वेदों का अध्ययन करना अच्छी बात है : द्वि-वेदिन, त्रि-वेदिन, और चतुर्वेदिन अर्थात् जिन विद्वानों ने दो, तीन या सभी चार वेदों[117] का अध्ययन किया हो, उन्हें काफी सम्मान से देखा गया और उन्होंने इस उपाधि को गर्व के साथ धारण किए रखा।[118] सबसे कठोर आलोचना उन लोगों की होती है जो अपनी वैदिक परम्परा को पहले सीखे बिना किसी और की यानी सांसारिक ज्ञान की शिक्षा हासिल करते थे,[119] और मैत्री उपनिषद ब्राह्मणों को वैदिक ज्ञान के अलावा कुछ अन्य सीखने की अनुमति नहीं देता।

एक वेद के अध्ययन के लिए सबसे ज्यादा बारह वर्ष की अवधि वर्णित की गई है; कुछ ग्रन्थों में इसे न्यूनतम माना गया है, और कई अन्य ग्रन्थों में यह कहा गया है "या जब तक विद्यार्थी इसे समझ नहीं लेते हैं।"[120] प्रत्येक अतिरिक्त वेद का अध्ययन करने में बारह वर्ष लगेंगे। इसका अर्थ यह है कि चार वेदों के कोई

[115] *ParGS* III 15,23 अथातो अधीत्याधीत्यानिराकरणं प्रतीकं मे विचक्षणम् जिह्वा मे मधु यद् वचः कर्णाभ्यां भूरी सुश्रुवे मा त्वं हार्षीः श्रुतं मयि... स्वरकरण-कण्ठयौरस-दन्त्योष्ठ्य-ग्रहण-धारणोच्चारण-शक्तिर् मयि भवतु... यन मे श्रुत अधीतं तन मे मनसि तिष्ठतु।

[116] मनु III 2 पर मेधातिथि की टीका, याज्ञवल्क्य I 57 पर विश्वरूप की टीका और अन्य (Kane, *HoDh* vol. II p. 328 fnn. 791 and 792)। यहाँ तक कि उन लोगों के लिए जिन्होंने अपनी परम्परा को दूसरे पक्ष में छोड़ दिया एक अपमानजनक विशेषण भी था, शाखारण्ड। यह इस बात का संकेत है कि इस तरह का परित्याग इतनी आम बात थी कि उसके लिए नाम गढ़े जाएँ। (*Laghvasvalayana* 24.19; Hemacandra's *Abhidhanacintamani* 857)।

[117] *SGS* II 10,8. कुछ हल्कों में अथर्ववेद को अन्य तीन वेदों के समान मान्यता प्राप्त नहीं थी, और चतुर्वेदिन जिन्होंने अथर्ववेद को मान्यता दी, उन्हें कभी-कभी कमतर माना जाता था। यहाँ तक कि त्रिवेदी (traividya-s) उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध नहीं बनाते थे। स्कन्द-पुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य-खण्ड, अध्याय 33-38 के सन्दर्भ में C. Gupta, *The Brahmanas of India,* Delhi 1983, pp. 14f. and 158-160. *ApDhS* I 1,1,10 पर अपनी टीका में हरदत्त यह माँग करते हैं कि जो विद्यार्थी अथर्ववेद सीखना चाहते हैं, उन्हें एक पृथक उपनयन संस्कार से गुजरना होगा।

[118] *BauGS* I 7,3-7 के अनुसार एक व्यक्ति जिसने एक शाखा का अध्ययन किया है श्रोत्रिय (Vedic scholar) कहलाएगा और जिसने चारों वेदों पर महारत हासिल की वह ऋषि (seer) कहलाएगा। कई वेदों का अध्ययन अकसर एक पारिवारिक परम्परा थी। लेकिन परिवार के विभिन्न सदस्यों की सफलता का स्तर अलग-अलग था, और इसी के आधार पर परिवार के कुछ सदस्य द्विवेदिन हो सकते थे, अन्य त्रिवेदिन या चतुर्वेदिन हो सकते थे। अन्ततः ये उपाधियाँ पारिवारिक नामों के रूप में विकसित हुईं : C. Gupta, *Brahmanas*, pp. 8f.

[119] मनु II, 168, कुल्लूक की टीका के साथ (इसमें शंख-लिखित का एक उद्धरण भी है, जो वेदांगों और स्मृतियों के अध्ययन से छूट प्रदान करता है)। सभी छह वेदांगों के विशेषज्ञ को षड-अंग-विद् कहा जाता था : H. Krishna Sastri, *Epigraphia Indica* (EI) 5 (1898/99), p. 81; E. Hultzsch, *EI* 10 (109/10), p. 103; D.R. Bhandarkar, *EI* 18 (125/26), p. 250; G.S. Gai, *EI* 35 (1963/64), p. 196; M.S. Nagaraja Rao, *EI* 36 (1965/66), p. 316.

[120] *ChU* IV 10,1; *Gopatha-br.* II 5; *ManGS* I 2,6; *BauGS* I 2,1-5; *AsGS* I 22,3f.; *ParGS* II 5.13-15; *HirGS* I 8,14; *Bharadvaja-grhyasutra* (BharGS) I 9; *GauDhS* I 2,51-53; *ApDhS* I 1,2,12-16; *Manu* III 1; *Yajn.* I 36 (जो प्रत्येक वेद के लिए बारी-बारी से 5 वर्ष देते हैं)। आधुनिक समय में, एजुकेशन कमीशन रिपोर्ट ऑफ़ द मद्रास प्रोविंस कमिटी 1882 ने अपने

ज्ञाता ने एक विद्यार्थी के रूप में 48 वर्ष बिताए होंगे और उनकी पढ़ाई पूरी होने के समय उनकी उम्र 56 वर्ष होगी (यह मानते हुए कि कोई एक इन सभी विशाल ग्रन्थों को याद कर सकता था)।[121] मीमांसा[122] ने इतने लम्बे अध्ययन काल का विरोध किया क्योंकि यह इस वैदिक निर्देश[123] का उल्लंघन होगा कि "कोई भी पवित्र अग्नि को तभी जलाए (और विवाह करे तथा एक पुत्र का पिता बने) जब उसके बाल काले हों।"[124] केवल "स्थाई विद्यार्थी" (नैष्ठिक ब्रह्मचारिन्) ही इतनी व्यापक विद्वत्ता हासिल कर सकता था और ऐसा करने के बाद भी वैदिक नियमों की रूपरेखा के भीतर रह सकता था : एक ऐसा व्यक्ति जिसने पारिवारिक जीवन को त्याग दिया हो और जो लगातार अपने शिक्षक के अधीन रह रहा हो।[125] लेकिन इसमें कई कठिनाइयाँ हैं; एक परिवार होने के कारण शायद उसका शिक्षक स्वयं चार वेदों का ज्ञाता नहीं होगा — और यदि सभी वेदों को सीखने में इतना समय लगता है और सिर्फ एक बार उन्हें पढ़ाने में भी इतना समय लगता है तो क्या एक विद्यार्थी के स्नातक होने के समय उसके शिक्षक की आयु सौ वर्ष से ज्यादा नहीं होगी? अध्ययन की यह लम्बी अवधि स्पष्ट रूप से यथार्थवादी नहीं है,[126] और ब्राह्मणों को स्वयं को द्वि-वेदिन, त्रि-वेदिन, या चतुर्वेदिन कहने के लिए किसी अन्य आधार की तलाश करनी चाहिए। हो सकता है कि कई ब्राह्मणों ने अन्य वैदिक परम्पराओं के कुछ महत्त्वपूर्ण भागों को सीखा हो, लेकिन सम्पूर्ण वेद सीखने की सम्भावना अत्यन्त कम है। एक वेद के सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को पूरा करने वाले वेद के विद्यार्थी को बीस वर्ष

पृ. 6 (Education Commission Report of the Madras Prov. Committee 1882, p. 6) में यह बताया कि कृष्ण-यजुर्वेद और उससे जुड़े कर्मकाण्डों की जानकारी हासिल करने में बीस वर्ष लग जाते थे (Altekar, *Education*, p. 92 fn. 2)। व्याकरण सम्बन्धी अध्ययन के लिए इ-त्सिंग द्वारा प्रस्तुत इसी तरह के आँकड़ों से तुलना करें, रेकार्ड (Record), पृ. 170-177 (देखें ऊपर पृ. 161 और नीचे पृ. 229 [क्रमश: पुस्तक का पृष्ठ 161 और 229 ... अनु.])।

[121] श्वेतकेतु को वंडरकिंड ऑफ़ द वैदिक स्टडीज़ (वैदिक अध्ययन का अद्भुत बच्चा) कहा जाता है। यह माना जाता है कि उसने बारह साल अध्ययन किया, और फिर "सभी वेदों को जानने के बाद" वह चौबीस वर्ष की आयु में लौट आया (*ChU* VI 1,2)। इस बात की पूरी सम्भावना है कि उस समय वैदिक ग्रन्थों का समूह छोटा था।

[122] Sabarasvamin on *MS* I 3,3.

[123] *BauDhS* I 2,3,4f. ...जीवितस्यास्थिरत्वात् कृष्ण-केशो अग्नीन् आदधीतेति श्रुतिः। "चूँकि जीवन अनिश्चित है। जब उसके बाल काले हों, उसे पवित्र अग्नि प्रज्ज्वलित करने दें — यही श्रुति सम्मत है।"

[124] ध्यान दें कि क्लासिकल ग्रीस और रोम में भी एक दृढ़-विश्वास (सोफ़िस्टों की अतिवाद की प्रतिक्रिया में) था कि शिक्षा किशोरावस्था से आगे नहीं बढ़नी चाहिए; साथ ही, यह अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि एक व्यक्ति को नागरिकता के लिए तैयार करना चाहिए (W. Jaeger, *Paideia,* vol. I pp. 318f.)।

[125] शबरस्वामिन (*MS* I 3,4 पर) ने ऊपर दिए गए कारणों से इस प्रथा को अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार इस तरह के विस्तृत अध्ययन के नियम उन लोगों के लिए तैयार किए गए थे, जो अपनी नपुंसकता (अक्षमता) को छिपाना चाहते थे। कुमारिल (Kumarila — Tantra-varttika on *MS* I 3,4, ed. K.V. Abhyankar, *Anandasrama Sanskrit Series* [ASS] no. 97, Pune 1970, pp. 110f, trans. Jha, Calcutta 1903-1924, p. 162) ने शबर पर टिप्पणी करते हुए वैदिक आज्ञाओं के बीच किसी भी विरोधाभास से इंकार किया है। एक स्थाई विद्यार्थी (या एक तपस्वी) का जीवन उन लोगों के लिए एक उपलब्ध विकल्प है, जो अन्धे, लँगड़े या अन्यथा अयोग्य हैं क्योंकि उनके लिए परिवार स्थापित करना कठिन है (Altekar, *Education,* p. 94, Kane, *HoDh,* II pp. 350f. and P. Olivelle, *The Asrama System,* pp. 236-239)। मध्यकालीन यूरोप में विकलांग मठ में सम्मिलित होने के विकल्प का उपयोग करते थे। मसलन, कवि नोटकर बालबुलस (Notker Balbulus, ई. 840-912), सेंट गैलेन के एक बेनेडिक्टाइन भिक्षु ने इस विकल्प का उपयोग किया। इसके अलावा, स्वीडन में हाल में भी अपने विकलांग पुत्रों को कॉलेजों में भेज दिया जाता था, क्योंकि वे खेत में काम नहीं कर पाते थे। मेरे सहकर्मी प्रो. बेंग्ट लॉफ़स्टेड (Prof. Bengt Lofstedt) ने विशेष रूप से यूनानी धर्म के अध्ययन में अग्रणी महान मार्टिन पी नील्सन (Martin P. Nilsson) के मामले की ओर इशारा किया है। नैष्ठिक ब्रह्मचारियों से भिन्न तपस्वी और भिखारी थे। भिखारियों को अकसर उनके माता-पिता ने जानबूझकर अपंग बना दिया था। हो सकता है कि सिर्फ ऐसे भिखारियों को बाहर रखने के लिए गया में तपस्वियों के लिए एक ऐसा विश्राम-गृह बना था, जिसमें वे तपस्वी रह सकते थे जो विकृत नहीं थे और सम्मानजनक थे D.C. Sircar, *EI* 35 (1963/64), pp. 226-228) (श्लोक 11 : व्यंगानार्य-वहिस्-तपोजनै*[स]* स्थातव्यम् अत्राश्रमे)।

[126] हुआन-त्सांग (सातवीं शताब्दी ई.) बताते हैं (*Travels*, vol. I p. 160) कि "जब शिष्य तीस वर्ष का हो जाता है, तो उसका मन स्थिर हो जाता है और उसकी शिक्षा समाप्त हो जाती है, और वह पदभार ग्रहण करता है।"

की आयु तक स्नातक हो जाना चाहिए। यह समय सीमा बौद्ध प्रशिक्षु के प्रशिक्षण से मेल खाती है, जो भिक्षु के रूप में स्वीकार किए जाने के लिए अपने आचार्य के अधीन बारह वर्ष तक अध्ययन कर सकता था।

हालाँकि बहुत संकटग्रस्त होने के बावजूद वैदिक शिक्षा आज तक जीवित है, लेकिन वैदिक काल के अन्त में और ईसवीं की आरम्भिक सदियों में बहुत-से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लोगों में संस्कृत का और खासकर वैदिक संस्कृत का ज्ञान मातृभाषा जैसा हो इसकी सम्भावना कम ही है, भले ही विद्वान ब्राह्मण (पतंजलि ने पहले ही भाषा पर उनकी पत्नियों की पकड़ पर सवाल उठाया था)[127] अपने पुत्रों से संस्कृत में ही बातचीत करते हों। संस्कृत धीरे-धीरे काफी हद तक एक ऐसी भाषा बन गई, जिसे व्याकरण सम्बन्धी पुस्तकों की मदद से दूसरी भाषा के रूप में सीखा जाने लगा। एक ऐसा समय था जब अधिकांश श्रोता वैदिक मंत्रों को आसानी से समझ लेते थे, लेकिन अब उनके अर्थ की परवाह किए बिना उन्हें याद किया जाने लगा, और इनके पाठ करने के बाद भी इनकी व्याख्या की जरूरत महसूस नहीं की गई;[128] जो लोग अर्थ की परवाह करते थे, उन्हें अर्थ समझने के लिए काफी प्रयत्न करना पड़ता था।

एक तरह से यह परिवर्तन पतंजलि की व्याख्या में परिलक्षित होता है कि व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता की व्याख्या करना क्यों जरूरी था (भले ही उन्हें प्रक्रिया की सच्ची ऐतिहासिक समझ नहीं हो सकती थी)। आखिरकार विद्यार्थी ओम शब्द का जाप करने के बाद वैदिक ग्रन्थों को अध्याय-दर-अध्याय पाठ करना सीखते हैं। पतंजलि कहते हैं, "पिछले युग में विद्यार्थी दीक्षा के बाद व्याकरण का अध्ययन करते थे, तथा स्थान, करण, और उससे जुड़े तरीकों (ध्वनियों की उत्पत्ति) को समझने के बाद ही वे वेदों के शब्दों को सीखते थे। आज ऐसा नहीं है; वेद सीखने के बाद वे तुरन्त कहते हैं : 'हमारे लिए वैदिक शब्द वेद से स्थापित हैं, दैनिक जीवन के शब्द, जीवन से — व्याकरण व्यर्थ है'।" इसलिए आज के विद्यार्थियों को व्याकरण का उद्देश्य बताना चाहिए।[129] मैंने पहले यह सुझाव दिया है कि पहले के समय (मसलन, ब्राह्मणों या उपनिषदों के समय) के वेद के विद्यार्थी ने अपने दीक्षा से पहले उचित उच्चारण के बारे में कुछ सीखा होगा (पतंजलि सिर्फ इसी बात का उल्लेख करते हैं!)[130], लेकिन मातृभाषा के रूप से संस्कृत बोलने वाला होने के कारण उसे किसी विशेष शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी। पतंजलि बाद के समय की चिन्ता को दिखाते हैं जब संस्कृत का ज्ञान कमजोर हो गया था, लेकिन कम-से-कम उन लोगों के लिए औपचारिक रूप से व्याकरण की शिक्षा की आवश्यकता थी, जो वेद का सिर्फ पाठ करने के बजाय कुछ ज्यादा हासिल करना चाहते थे।

हमें बाद के दौर में गैर-वैदिक अध्ययनों के बारे में फर्क सूचनाएँ मिलती हैं। चीनी तीर्थ-यात्री इ-त्सिंग की रिपोर्ट के मुताबिक बच्चे छह वर्ष की उम्र में पढ़ना-लिखना सीखना शुरू करते थे और छह महीने के भीतर अपना प्रारम्भिक पाठ पूरा कर लेते; आठ साल की उम्र में उन्हें पाणिनी के व्याकरण से परिचित करवाया

---

[127] *Mahabhasya* I 19,21f. कुछ वैदिक कर्मकाण्डी अनुष्ठानों में, यद् वा नस् तद् वा नस् का सही ढंग से उच्चारण करते थे। लेकिन वे ही साधारण बातचीत में यर् वा णस् तर् वा णस् कहते थे, जो उनकी स्थानीय बोली का रूप था : *Mahabhasya* I 11,11-14.

[128] अगर ठीक से उच्चारण किया जाए तो वैदिक मंत्र शक्तिशाली थे; शब्दों और वाक्यों के सामान्य अर्थों में उनका जो भी अर्थ हो, कई लोगों की राय में इन अर्थों को उनकी कर्मकाण्डीय भूमिका के लिए आवश्यक नहीं माना जाता था (उदाहरण के लिए, यास्क के निरुक्त I 15 में उद्धृत कौत्स का कथन)।

[129] महाभाष्य I 5,6-10; पुराकल्प एतद् आसीत्। संस्कारोत्तर-कालम् ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस् तत्र स्थान-करणानुप्रदान-ज्ञनेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तद् अध्यत्वे न तथा। वेदम् अधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति: वेदान नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच् च लौकिकाः। अनर्थम् व्याकरणम् इति।

[130] वास्तव में, महाभाष्य I 208, 18f. पतंजलि ध्वनि उत्पादन के तीन तत्त्वों की तुलना असली व्याकरण, "अनुवर्ती या उच्च विज्ञान" (उत्तरा विद्या) से करते हैं।

जाता था और आठ महीनों में वे इसके चार हजार सूत्र याद कर लेते थे। वे दस साल की उम्र में व्याकरण के पूरक का अध्ययन करते, और तीन साल बाद उसमें महारत हासिल कर लेते। इसके बाद वे काशिका भाष्य का अपना अध्ययन आरम्भ करते, और उसके उपरान्त साहित्यिक रचना, तर्क और सामान्य दर्शन का अध्ययन पूरा करते थे। अमूमन वे नालंदा या वलभी जैसे प्रसिद्ध संस्थानों से शिक्षा हासिल करते। वे अपने अध्ययन के समापन पर अपने बीस के दशक में होंगे।[131] कुछ विद्यार्थी इसके बाद व्याकरण या दर्शन में उच्च अध्ययन करेंगे या चिकित्साशास्त्र अथवा विधिशास्त्र में पेशेवर प्रशिक्षण हासिल करेंगे।

ये सूचनाएँ उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में विलियम एडम द्वारा एकत्र की गई जानकारियों से बहुत अलग नहीं हैं। एडम ने बताया कि जब युवा लड़के संस्कृत सीखने के लिए स्कूल में प्रवेश करते थे, तो वे बंगाली लिखने और पढ़ने की बुनियादी क्षमता तथा अंकगणित के अल्प ज्ञान के साथ आते थे; लेकिन संस्कृत और उसके साहित्य का उनके बाद का अध्ययन उन्हें "लगभग बाकी हर चीज से अनभिज्ञ बना देता।"[132] उन्होंने सात से चौदह साल के बीच की उम्र में सामान्य साहित्य के स्कूलों में प्रवेश लिया, और बाईस से बत्तीस की उम्र में स्कूल छोड़ा। अध्ययन का समय ग्यारह से बाईस साल के बीच था। कानून या तर्कशास्त्र का प्रशिक्षण देने वाले स्कूलों में तुलनात्मक रूप से अधिक उम्र के विद्यार्थी प्रवेश लेते थे, वहीं चिकित्सा का प्रशिक्षण सामान्य स्कूलों में पढ़कर आए वयस्क स्नातकों को ही दिया जाता था।[133] कई विद्यार्थी अपनी पढ़ाई पूरी करने के समय बत्तीस वर्ष के थे। डब्ल्यू सीटन कार[134] ने कुछ साल बाद एडम की रिपोर्ट की पुष्टि की : कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज में चौदह वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ही छात्र के रूप में अपने 12 वर्षीय स्कूली अध्ययन कार्यक्रम के लिए स्वीकार किया जाता था। अध्ययन के पाठ्यक्रम को इस प्रकार विभाजित किया गया था — संस्कृत सीखने के लिए तीन साल का पाठ्यक्रम, साहित्य वाचन के लिए दो साल तथा काव्यशास्त्र के लिए एक अतिरिक्त वर्ष; तीन वर्ष वेदान्त, न्याय और गणित के लिए तय किए गए और इसके बाद आखिरी तीन वर्षों में स्मृतियों का पेशेवर अध्ययन होता था, जिसके अन्तर्गत विधि के मानक ग्रन्थों को याद किया जाता था। यह बात उल्लेखनीय है कि महाकाव्यों और पुराणों अर्थात् लोकप्रिय संस्कृति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

सामान्य शिक्षा या अपने स्वयं के अध्ययन की विषय सीमा के बाहर या रुचि के विषयों पर कम ध्यान दिया गया। थॉमस एक्वीनास के शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति होमो यूनियस लिबरी (*homo unius libri*) "(सिर्फ) एक पुस्तकवाला" था। शब्द पर मीमांसकों और नैयायिकों के बीच चर्चाओं में दोनों पक्ष लगातार एक दूसरे से अलग बात कर रहे थे, क्योंकि वे शब्द की बिलकुल अलग परिभाषाओं को अपना आधार बनाकर बात कर रहे थे : एक ओर भाषा का ध्वनिग्राम (phoneme) और दूसरी ओर भौतिक आवाज। इन दोनों ने ही अपनी परिभाषाओं और अवधारणाओं के आधार पर अपने विरोधी पक्ष की मंशा और दृष्टिकोण को समझे बगैर उसे खारिज कर दिया — वे खुद को अपने विरोधी के स्थान पर रखकर सोच नहीं पाए। कुछ विद्वानों ने इस कमी को महसूस किया और इसे हल करने का प्रयत्न किया। एक प्रचलित कथा[135] के अनुसार, बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति (वे खुद एक ब्राह्मण थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था) अपनी पहचान छुपाकर कुमारिल की सेवा में हाजिर हुए और उनका विश्वास हासिल किया। उन्होंने यह कुमारिल के सिद्धान्तों को बेहतर समझने और अपने ब्राह्मण विरोधियों से वाद-विवाद में जीतने के लिए किया। भद्रेश्वरसूरि की

---

[131] I-tsing, *Record*, pp. 172-178; cf. above p. 161.
[132] W. Adam, in *One Teacher, One School,* p. 82.
[133] वही पृ. 81, 84-87, 152-172, 226-239.
[134] W. Seton Karr, *Journal of the Asiatic Society of Bengal* 14 (1845), pp. 135f.
[135] Taranatha, *History of Buddhism in India*, pp. 228-231.

कहावली के अनुसार “दो जैन अनुयायी गुप्त रूप से बौद्धों के बीच रहे, उनका लक्ष्य बौद्धों के शास्त्रों को जानना था, और जब उनकी वास्तविक पहचान उजागर हुई, तो बौद्धों द्वारा उनकी हत्या कर दी गई।”[136]

लेकिन आइए, हम उत्तर वैदिक काल के वैदिक विद्यार्थी की ओर लौटते हैं। सूर्योदय के समय विद्यार्थी प्रातःकालीन सन्ध्या वन्दन करता था और उसके बाद सुबह का अध्ययन आरम्भ होता था।[137] जब पाठ समाप्त होता था तो विद्यार्थी अपने हाथ में पकड़ी हुई कुशा को फेंक देता था।[138] वह स्नान करता था और देवताओं, वैदिक ग्रन्थों, पितरों, तथा अतीत के प्रसिद्ध गुरुओं को प्रणाम करता था।[139] शेष दिन वह खड़े रहकर और उपवास करके बिताता था, और दोपहर में हवन करता था। ऐसे में प्रश्न उठता है कि क्या इस प्राधिकारी के अनुसार दोपहर में कोई अध्यापन नहीं होता था?[140] दिन-रात स्वाध्याय करने अर्थात् सीखी गई सामग्री को बार-बार दोहराने का उल्लेख कई दफा मिलता है : “रातभर इन दोनों विद्यार्थियों ने पढ़ाई की, और फिर पूरे दिन भी” और “जब हवा नहीं होती है तो बगल में अच्छी तरह जली हुई गोबर की आग अध्ययन के लिए प्रेरित करती है।”[141] लेकिन अष्टावक्र ने, जो अभी भी अपनी माँ के गर्भ में है, अपने पिता कहोड की आलोचना की : “आप सारी रात अध्ययन करते हो; हे पिता, यह ठीक नहीं है।”[142] अपने विद्यार्थियों[143] के सामने आलोचना किए जाने से नाराज पिता ने पुत्र को शाप दिया।

अलतेकर[144] ने यह संदिग्ध दावा किया है कि शिक्षक के घर पर अपने कमरे, खान-पान, और ट्यूशन के लिए काम करने वाले गरीब छात्रों को उनके शिक्षक द्वारा विशेष रात्रि कक्षाओं में पढ़ाया जाता था, ताकि वे छूटे पाठों की भरपाई कर पाएँ। अलतेकर जातक संख्या 252 के गद्यांश को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं; जैसा कि यह सर्वज्ञात है यह गद्य विस्तार मूल ग्रन्थ का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि बाद में श्रीलंका में (शायद पाँचवीं सदी ईसवी के आसपास) इन्हें लिखित रूप में सम्मिलित किया गया था। हालाँकि ये पुरानी परम्पराओं पर भी आधारित हो सकते हैं। अलतेकर द्वारा दिए गए वाक्यों में हमें यह बताया गया है कि धर्म

---

136 U.P. Shah, *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute* (ABORI) 48/49 (1968), p. 248.

137 *SGS* II 9,3-10,1; *KhadiraGS* III 2,22. Mookerji, *Education,* p. 26 ने गलत तरीके से दावा किया कि *TS* VI 4,3,1 की गलत व्याख्या के आधार पर “पक्षियों द्वारा दिन के अवकाश की घोषणा करने से पहले” मुखर्जी का यह दावा, कि अध्ययन और भी जल्दी शुरू होता था, *TS* VI 4,3,1; के अनुच्छेद ‘पक्षियों की चहचहाहट द्वारा दिन की शुरुआत की घोषणा से भी पहले’ – गलत है क्योंकि यह अनुच्छेद विद्यार्थियों के सन्दर्भ में नहीं है।

138 *SGS* II 7,28-8,1.

139 *SGS* IV 9,1-10,6 (हालाँकि पाठ में इस तर्पण को शिक्षण से सम्बन्धित अध्याय से अलग किया गया है, लेकिन इस अनुष्ठान का सही स्थान एक पाठ के अन्त में प्रतीत होता है, जैसा कि H. Oldenberg, *SBE* XXIX p. 120 fn. बताते हैं।

140 Altekar, *Education,* p. 86 हाल के दिनों के सन्दर्भ में यह कहते हैं कि बंगाल और बिहार के स्कूलों में दोपहर में नए पाठ पढ़ाए जाते थे, वहीं सुबह याद करने और पहले के किए गए कार्यों की पुनरावृत्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था। यह प्रथा पाण्डुलिपियों और लिखित नोट्स की भूमिका के कारण हो सकती है। यह असम्भव है कि दोपहर शिक्षण से मुक्त था क्योंकि *ApDhS* I 11,32,12-17 केवल इस बात का उल्लेख करता है कि रात में सदाचार सम्बन्धी उपदेश के अतिरिक्त कोई और शिक्षण नहीं होना चाहिए। रात के तीसरे पहर में शिक्षण हो सकता था, लेकिन शिक्षण के बाद फिर से लेटने के निषेध द्वारा इस विचार को यह कहते हुए कम आकर्षक बना दिया गया था कि “अध्ययन मना है” (निद्राहीन शिक्षक के कारण?) : उसे रात के बाकी समय केवल एक खम्भे पर झुककर नींद लेने की अनुमति थी या खुद से पाठ करने की अनुमति थी। *GauDhS* I 9,28 और *VasDhS* XII 46 में स्वाध्ययन के लिए समान प्रतिबन्ध है।

141 महाभाष्य I 481,10 इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिर् अधीता, अथो आभ्याम् अहर् अपी अधीतम् और II 33,8, कारिषो अग्निर् निवात एकान्ते सुप्रज्वलितो अध्ययनं प्रयोजयति। जलते हुए कण्डे (उपले) गर्मी के स्रोत हैं, न कि पढ़ने के लिए प्रकाश का, जैसा कि मुखर्जी (एजुकेशन, पृष्ठ 236) बताते हैं।

142 महाभारत III 132,8cd सर्वां रात्रिम् अध्ययनं करोषि
नेदं पितः सम्यग् इवोपवर्तते I*8*I

143 “यदि शिक्षक लापरवाही से या जानबूझकर कोई अपराध करता है, तो विद्यार्थी उसे व्यक्तिगत तौर पर इंगित करेगा” : *ApDhS* I 4,25.

144 Altekar, *Education*, p. 87.

के विद्यार्थी (धम्मन्तेवासिका) "शिक्षक के लिए काम करते हुए रात में कौशल / शिल्प सीखते थे," वहीं शिक्षक को शुल्क देने वाले सबसे बड़े बेटे की तरह सीखते थे। जातकों में सम्पन्न विद्यार्थियों, यहाँ तक कि एक राजकुमार का भी किस्सा है, जो देर रात में कक्षा में सम्मिलित होने के बाद अँधेरे में निकले।[145]

हम यह मान सकते हैं कि इन नियमों को वेदों के विद्यार्थियों के लिए तैयार किया गया था, यानी उन विद्यार्थियों के लिए जिन्होंने सम्पूर्ण वैदिक परम्परा को याद करने का बीड़ा उठाया था, लेकिन बाद में इन्हें गैर-वैदिक और यहाँ तक कि संसारी विषयों के अध्ययन के लिए भी संशोधित किया गया। तमिल व्याकरण नन्नूल में इस बात का इशारा मिलता है : "जिसने किसी पुस्तक को एक बार सुना है और वह इसे दूसरी बार सुनता है, वह कठिनाइयों से उबर जाएगा और इसे बेहतर तरीके से समझेगा। यदि वह इसे तीन बार सुनता है, तो वह इसका अर्थ जानते हुए सुनाने में समर्थ हो जाएगा।" जब पाण्डुलिपि और पठन व्यापक रूप से प्रचलित हो गए, और ज्यादा तीव्र बदलाव होने लगे। एक विद्यार्थी कक्षा के बाद फिर से ग्रन्थ को पढ़ सकता था और अपनी समझ को गहरा बना सकता या इसे ज्यादा अच्छी तरह याद कर सकता था। फिर भी, शिक्षक द्वारा मौखिक प्रस्तुति आधुनिक समय तक सभी ज्ञान का प्राथमिक स्रोत बनी रही।

हम अकसर व्यक्त किए जाने वाले इस विश्वास पर भी सवाल उठा सकते हैं कि भारतीय विद्यार्थी ने अपने पाठ की अन्तर्वस्तु के बारे में कुछ भी सीखने से पहले उसे कण्ठस्थ कर लिया था। वास्तव में, यह बात अच्छी तरह प्रमाणित है कि युवा लड़कों ने पाणिनी के व्याकरण को पहले अच्छी तरह कण्ठस्थ कर लिया था, जिसे बाद में उन्हें समझाया गया था; लेकिन उन्होंने पाणिनी से संस्कृत नहीं सीखी थी। युवा लड़कों ने पाणिनी के समय, और शायद पतंजलि के समय भी, संस्कृत को सीधे तरीके से बोलना और समझना सीखा था, यानी उन्होंने अपने माता-पिता और परिवार के अन्य बड़े सदस्यों को सुनकर सीखा था।[146] उन्हें पाणिनी के व्याकरण से संस्कृत की व्याकरणीय संरचना की स्पष्टता का आभास हुआ, जिससे समझ आया कि यह भाषा वास्तव में संस्कृत है यानी विदित शुद्ध तरीकों से बनी है।[147] यह सन्देहास्पद है कि वास्तव में किसी ने संस्कृत इस कठिन व्याकरण से सीखी हो, क्योंकि यह खुद माँग करता है कि पाठक वास्तव में संस्कृत जानता हो। वेदान्त-सूत्र इतने संक्षिप्त और अस्पष्ट हैं कि वे अपने-आप में सीखने का एक उपकरण नहीं थे, बल्कि वे शिक्षक के पूर्ववर्ती मौखिक वक्तव्य या शिक्षा को याद रखने में सहायक रहे होंगे। संगीत और मार्शल आर्ट्स की नियमावली (manuals) विद्यार्थियों के बजाय शिक्षक के हाथ में एक बैक-अप के रूप में होती थी,[148] वे वास्तव में शास्त्र यानी "सिखाने के अस्त्र" थे, न कि "सीखने के अस्त्र।" भारतीय ज्ञान की

---

[145] Mookerji, *Education*, pp. 484f. with reference to ***Jatakas*** II 278; IV 47 and 96. कम सम्भावित कहानियों में यह दावा है कि तीतर पक्षियों को वैदिक मंत्रों का पाठ करने के लिए प्रशिक्षित किया गया था और इस प्रकार विद्यार्थियों की मदद की गई थी (जातक संख्या 37 = तित्तिरि-जातक)।

[146] ऊपर पृ. 216 (पुस्तक का पृ. 216 ... अनु.) पर वर्णित संस्कृत विद्वान के मामले में यह अभी भी सही था, जिन्होंने अपने गुरुकुल में बड़ों को सुनकर संस्कृत सीखी।

[147] भले ही यास्क (निरुक्त I 17 पद-प्रकृतिः संहिता) कहते हैं कि निरन्तर भाषण व्यक्तिगत शब्दों पर आधारित है, लेकिन वे प्रतिशाख्य संहिता-पाठ की उपेक्षा नहीं करते हैं, या पद-पाठ से संहिता को बनाने का दिखावा नहीं करते हैं। संहिता-पाठ आर्ष था, जो प्राचीन ऋषियों से आई एक पवित्र परम्परा थी। प्रतिशाख्यों का उद्देश्य दो पाठों के सम्बन्ध को स्पष्ट करना था। उनके अधिकांश नियम पद-पाठ से संहिता-पाठ की ओर ले जाने वाले सन्धि नियमों के अनुप्रयोगों को दर्शाते हैं, अन्य इसके विपरीत संहिता-पाठ से शब्द-दर-शब्द पद-पाठ की व्याख्या करते हैं (वाजसनेयि-प्रतिशाख्य अध्याय 5, तैत्तिरीय-प्रतिशाख्य अध्याय 3, और शौनकीय चतुराध्यायिका अध्याय 4)। स्पष्ट रूप से वैदिक पाठ के दोनों रूपों को प्रतिशाख्य के नियमों के लागू होने से पहले सीखा गया था (साथ ही आगे देखें, पृ. 241-245 [पुस्तक का पृष्ठ 241-245 ... अनु.])। (संहिता- और पद-पाठ वैदिक मंत्रों के पाठ करने के दो तरीके हैं। संहिता-पाठ में पूरे मंत्र का एक साथ उच्चारण किया जाता है जबकि पद-पाठ में सन्धि विच्छेद करके शब्द-दर-शब्द पाठ किया जाता है ... अनु.)

[148] नीचे पृ. 267, 273 (पुस्तक का पृष्ठ 267, 273 ... अनु.) देखें। हालाँकि आयुर्वेद के विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि ग्रन्थ या कम-से-कम इसके एक बड़े हिस्से को याद कर लें।

शाखाओं को अकसर शास्त्र कहा जाता है। यह शब्द खोज या लातीनी शब्द *scientia* (ज्ञान) के बजाय आदेश या निर्देश को दर्शाता है। अमूमन उच्च स्तरीय अध्ययन का अर्थ एक आधिकारिक ग्रन्थ का अध्ययन था, जो किसी समस्या के अध्ययन की बजाय व्याख्यात्मक (टीका) अध्ययन पद्धति पर आधारित था।[149] अधिकांश विद्वत्तापूर्ण गतिविधि इन ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाओं के रूप में देखी जा सकती है।[150] प्रतीत अन्तर्विरोधों को सुलझाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई। बार-बार होने वाली बहसों ने विपरीत तर्कों को सामने लाने, विद्यार्थियों की विद्वत्ता और कौशल प्रस्तुत करने, और किसी व्यक्ति द्वारा अपने दृष्टिकोण को उच्चतर दिखाने का अवसर प्रदान किया।[151] वाद-विवाद की प्रधानता के पीछे मुख्य कारण था — भारत में भी और गैलीलियो व फ्रांसिस बेकन के पूर्व के यूरोप में भी — प्रयोग का वस्तुत: अभाव। चूँकि लोग अवलोकन से परिचित थे, लेकिन उन्हें ऐसा नहीं लगा कि अवलोकनों को प्रायोजित करके सिद्धान्त के रूप में विकसित किया जा सकता है। इसलिए प्रतियोगी दावों में सत्य की खोज के लिए सिर्फ तर्क को एकमात्र साधन माना गया।[152]

शिक्षक के घर में विद्यार्थी के जीवन को सख्ती से नियमित किया जाता था। उसे सूर्योदय से पहले उठना होता था और वह अपने शिक्षक के जागने से पहले स्नान करके सन्ध्या अनुष्ठान, और हवन करता था। शिक्षण के दौरान उसे शिक्षक के प्रति लगातार सम्मान दिखाना पड़ता था। यह व्यवस्था भी थी कि विद्यार्थी के बैठने की जगह शिक्षक से नीचे होनी चाहिए, हवा का बहाव न उसकी ओर से शिक्षक की ओर होना था न शिक्षक से उसकी ओर, शिक्षक के बहुत निकट नहीं होना चाहिए, और उसे इस तरह बैठना चाहिए जिससे उसका पैर शिक्षक की ओर न हो। उसे लेटे-लेटे शिक्षक से बात नहीं करनी चाहिए, लेकिन यदि शिक्षक खुद लेटे या बैठे हुए हों, तो वह बैठकर बात कर सकता है; यदि शिक्षक खड़ा है तो उसे बोलने से पहले उठना चाहिए। उसे थूकने, हँसने, जम्हाई लेने, या अपनी उँगलियों को फोड़ने से बचना चाहिए। उसे अपने शिक्षक के पीछे चलना चाहिए, बेकार या मूर्खतापूर्ण बात करने से बचना चाहिए, और शिक्षक की बातों पर ध्यान देना चाहिए।[153] वह अपने शिक्षक को ईश्वर जैसा सम्मान देते हुए ही व्यवहार करेगा।[154] कुछ आधुनिक विद्वान कुछ सन्दर्भों का उल्लेख करते हैं, जिनमें विद्यार्थी को कठिन सामग्री पढ़ाने से पहले "आज्ञा-पालन की विशेष शपथ" या "समझौते" (समय) का उल्लेख है; यह शायद कुछ खास ग्रन्थों, खासकर

---

[149] व्याख्या को अकसर व्यापक नियम (metarules — परिभाषा। शायद शाब्दिक रूप से "एक पाठ के इर्द-गिर्द चर्चा" : J. Gonda, *Ritual Sutras,* p. 509, L. Silburn, *Instant et cause,* p. 60 के सन्दर्भ में) द्वारा दिशा देते थे, जो अनुष्ठान सूत्रों और विशेष रूप से व्याकरणिक ग्रन्थों में पाए जाते हैं, एक सम्बन्धित अवधारणा तंत्र-युक्तियाँ (text-fittings) हैं। वे अर्थशास्त्र, चरक संहिता, युक्ति दीपिका, और तमिल व्याकरण तोल्काप्पियम् और नन्नूल में पाए जाते हैं। H. Scharfe, *Investigations in Kautalya's Manual of Political Science,* Wiesbaden 1993, pp. 266-271.

[150] भारतीय दृष्टिकोण यूरोप में मध्य युग के अन्त में प्रचलित दृष्टिकोण जैसा है। रॉजर बेकन (Roger Bacon) ने लिखा : "जब आपको किसी ग्रन्थ का पूर्ण ज्ञान होता है, तो आपको ज्ञान की उस शाखा की हर चीज के बारे में पूर्ण ज्ञान होता है, जिसके बारे में यह ग्रन्थ बताता है (*scito textu, sciuntur omnia quae pertinent ad facultatem propter quam textus sunt facti*)": E. Durkheim, *Evolution,* p. 133.

[151] *HirGS* I 15,4-8 वाद-विवाद में जीत सुनिश्चित करने (संवादाभिजयन) के लिए संस्कार और मंत्र सिखाता है। यूरोपीय मध्य युग में विद्वानों ने इसी तरह एक्सपोसिटियो (expositio — एक टिप्पणी जिसने पाठ के पीछे तर्क की खोज की) और क्वेशचिनेज़ (quaestiones) का उपयोग किया, जिसने भला-बुरा के बारे में बताया। E. Durkheim, *Evolution,* pp. 135f.

[152] E. Durkheim, *Evolution,* pp. 151f.

[153] *ParGS* II 5,1-12; *ApDhS* I 2,6,1-7,12; *GauDhS* II 18-36; *Manu* II 175-190.

[154] *ApDhS* I 2,6,13.

वैदिक साहित्य, तक सीमित था। असल में, यह मान्यता एक गलत व्याख्या पर आधारित है।[155] लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विद्यार्थी से पूर्ण आज्ञा-पालन की अपेक्षा की जाती थी।

जैसा कि पतंजलि ने बताया है, विद्यार्थियों की आज्ञाकारिता पूरी तरह से स्वार्थ-रहित नहीं थी। "ये सभी [विद्यार्थी] जो अपने शिक्षक के आज्ञाकारी हैं, वे अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर भी कार्य करते हैं : 'परलोक में लाभ होगा, और यहाँ (अर्थात् इस दुनिया में) शिक्षक प्रसन्न होंगे और हमें पढ़ाएँगे'।"[156] यह आज्ञाकारिता केवल उन बातों (या आज्ञाओं) पर लागू होती थी, जो धार्मिक आचरण के मानकों का उल्लंघन नहीं करते थे और जिनके कारण जाति से पतन का डर था;[157] यदि शिक्षक लापरवाही से या जानबूझकर आचरण के नियमों का उल्लंघन करते हैं, तो विद्यार्थी निजी रूप से उन्हें इस बारे में बता देंगे, लेकिन यदि इसके बावजूद शिक्षक उस काम को जारी रखते हैं, तो विद्यार्थी खुद चुपचाप शिक्षक की ओर से सही काम कर देंगे, या घर लौट जाएँगे।[158] यदि शिक्षक को सुधारने का हर प्रयास नाकाम होता है, तो विद्यार्थी को यह सलाह दी गई है कि वह अनुमति लेकर अन्य शिक्षक की तलाश करे। इसके अलावा, यदि उसके शिक्षक की उचित कारण से निन्दा की जाए या उन्हें गलत तरीके से बदनाम किया जाए, तो विद्यार्थी को अपना कान ढँक लेना चाहिए या वहाँ से चले जाना चाहिए। वह खुद अपने शिक्षक की आलोचना नहीं कर सकता है; यदि उसके द्वारा की गई आलोचना या निन्दा सही है, तो वह गधे के रूप में जन्म लेगा, और यदि वह गलत है, तो कुत्ते के रूप में।[159] विद्यार्थी को कभी भी अपने शिक्षक की चाल, व्यवहार, या भाषण की नकल नहीं करनी चाहिए,[160] और कभी उन्हें उनके नाम से नहीं बुलाना चाहिए या उनके नाम का जिक्र नहीं करना चाहिए; यदि आवश्यकता हो तो विद्यार्थी अपने शिक्षक को भो दीक्षित या भो यजमान कहकर पुकार सकते हैं या तत्र-भवान दीक्षित*:* या उनके नाम के समानार्थी रूप के साथ उल्लेख कर सकते हैं (मसलन, हरदत्त को भवरात अर्थात् "शिव द्वारा दिया गया"),[161] तथा बाद के दौर में अकसर एक सम्मानसूचक शब्द जोड़ा गया (मसलन श्री, भट्ट, या आचार्य)। और फिर भी, एक अच्छा शिक्षक अपने विद्यार्थी को एक महान विद्वान — यहाँ तक कि खुद से बड़ा विद्वान — बनने में सहायता करने में गर्व महसूस करता है। यह अभिवृत्ति एक

---

[155] *ApDhS* I 4,13,10-12 नसमयेन कृच्छ्रं कुर्वीत त्रिःश्रावणम् त्रिःसहवचनम् इति परिहाप्य। अविचिकित्सा यावद् ब्रह्म निगन्तव्यम् इति हारीतः। न बहिर्वेदे गतिर् विद्यते। "तीन घोषणाओं या तीन संयुक्त कथनों को बाधित करने के बाद वह एक समझौते के बिना प्रायश्चित नहीं करेगा। कोई सन्देह नहीं है कि जब तक ब्रह्मन् (यानी वेद) का अध्ययन किया जाना है : ऐसा हारित कहते हैं। यह प्रक्रिया वेद के बाहर के मामलों में नहीं पाई जाती है।" G. Buhler, *SBE* II (Oxford 1879) pp. 49f ने इस "समझौते" को "आज्ञाकारिता का व्रत" माना, जो कुछ ग्रन्थों के अध्ययन के लिए एक पूर्वापेक्षा (जिसका नाम त्रिःश्रावण और त्रिःसहवचन है, जो अन्यथा ज्ञात नहीं है) है। ब्यूहलर ने हरदत्त की व्याख्या (उज्ज्वला में उनकी टिप्पणी) समय = शुश्रूषा का अनुसरण करते हुए यह कहा है। लेकिन कृच्छ्रं कृ का अर्थ "एक कठिन नए पाठ का अध्ययन करना" नहीं है; ध्यान दें, चरेत् कृच्छ्रम् *BauDhS* II 1,1,7, कृच्छ्रं चरेत् "एक 'कठिन' प्रायश्चित करें"। *Agnivesya-grhyasutra* (AgnivesyaGS) II 4,4 and III 12,1 श्लोक 6, कृत्वा... कृच्छ्रम् और कृच्छ्रतिकृच्छ्रं कुर्वीत, मनु XI 159 और 209, कृच्छ्र-कृत् याज्ञवल्क्य III 327। Mookerji, *Education*, pp. 195f पूरी तरह ब्यूहलर का अनुकरण करते हैं, जिन्होंने बाद में मनु (*SBE* XXV, Oxford 1886),) के अपने अनुवाद में इस शब्द की सही व्याख्या प्रस्तुत की।

[156] महाभाष्य II 36,1-3, ये तावद् एते गुरु-शुश्रूषवो नम ते अपि स्व-भूति-अर्थम् एव प्रवर्तन्ते*:* पारलौकिकं च नो भविष्यतिह च नः प्रीतो गुरुर् अध्यापयिष्यतीति।

[157] *ApDhS* I 2,19 आचार्याधीनः स्याद् अन्यत्र पतनीयेभ्य*:* "वह अपने शिक्षक की आज्ञा का पालन करेगा सिवाय जो (जाति से) गिरने की ओर ले जाए" साथ ही देखें, *BauDhS* I 2,3,22, सर्वत्रप्रतिहत-गुरुवाक्यो अन्यत्र पातकात् और *VasDhS* VII 10 गुर्वधीनः। कोई ऐसे विद्यार्थी को नहीं पढ़ाएगा, जो आज्ञाकारिता नहीं दिखाता है और किसी अयोग्य को शिक्षा देने के बजाय वह अपने ज्ञान के साथ मर जाए : *Manu* II 112f.; cf. *BauDhS* I 2,4,1.

[158] *ApDhS* I 4,25f. प्रमादाद् आचार्यस्य बुद्धि-पूर्वं वा नियमतिक्रमं रहसि बोधयेत्। अनिवृत्तौ स्वयं कर्मणि आरभेत। निवर्तयेद् वा। बौद्ध संघ में शिष्य से और आगे की अपेक्षा की गई है, उसे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उसका शिक्षक गम्भीर अपराधों के लिए भिक्षुओं के समुदाय द्वारा दण्डित हो, लेकिन उसे उस शिक्षक के पुनर्वास के लिए भी प्रयास करना चाहिए : *Mahavagga* I 25,21f. (PTS p. 49).

[159] *Manu* II 200f.

[160] *Manu* II 199; *Visnu-smrti* XXVIII 25.

[161] *GauDhS* II 24; 28; cf. *Manu* II 119 and *Visnu-smrti* XXVIII 24.

लोकप्रिय श्लोक में अभिव्यक्त होती है जो पण्डितों के बीच मौखिक परम्परा का हिस्सा है : सर्वतो जयम् अन्विच्छेत्; शिष्याद् इच्छेत् पराजयम् "वे हमेशा जीत की तलाश करेंगे; (लेकिन) किसी को भी अपने छात्र से पराजित होने की इच्छा रखनी चाहिए।"[162] पौराणिक और ऐतिहासिक उदाहरणों में भी यही भावना दिखती है। याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद में अपने शिक्षक उद्दालक को पराजित किया था;[163] अपना ज्ञान प्राप्त करने के बाद बुद्ध सबसे पहले पूर्व शिक्षकों आळार कालाम और उद्दक रामपुत्त के विचारों को बदलना चाहते थे,[164] और रामानुज ने अपने शिक्षक यादव-प्रकाश को हराया और उनका मत परिवर्तन किया।[165]

यद्यपि गृह्यसूत्रों में चरित्र के परीक्षण के बारे में सीधेतौर पर नहीं कहा गया है, लेकिन लोकप्रिय साहित्य[166] में उनका उल्लेख इतनी बार किया गया है कि हमें यह मान लेना चाहिए कि इनका वास्तव में कुछ आधार था। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों को गायें पालने के लिए भेजा,[167] उन्हें असम्भव नहीं तो मुश्किल कामों पर भेजा,[168] उन्हें अत्यधिक वंचित परिस्थितियों में रहने पर बाध्य किया,[169] या उन्हें नैतिक दुविधाओं की चुनौती दी।[170] इन कहानियों में हमेशा ही यह बात सामने आती है कि जो बात शिक्षकों की क्रूरता लगती है, असल में उसके पीछे विद्यार्थियों के लिए गहरी चिन्ता होती है, और अन्त में विपुल आशीर्वाद के रूप में ही सामने आती है।[171] उस समय एक अवज्ञाकारी या दुर्व्यवहार करने वाले विद्यार्थी को दण्डित करने की भी व्यवस्था थी, लेकिन ऐसा सिर्फ हल्के तरीके से किया जा सकता था : शिक्षक उसे डाँट सकते थे, उससे प्रायश्चित करवा सकते थे, या कुछ समय के लिए उसे दूर कर सकते थे।[172] यह प्रावधान किया गया था कि

[162] मैं इस श्लोक के लेखक का पता नहीं लगा पाया। इसका एक अन्य प्रकार भी है : सर्वतो जयम् अन्विच्छेत्, शिष्यात् पुत्रात् पराजयम् "वह हमेशा जीतना चाहेगा, लेकिन विद्यार्थी या बेटे से हार की चाह रखेगा।"

[163] उद्दालक, *BAU* VI 5,3, में उनके शिक्षक थे, लेकिन *BAU* III 7,1-23 में उनके द्वारा पराजित किए गए थे।

[164] *Majjhima-nikaya* 26,5,19 (*Pali Text Society edition* [PTS] I p. 170). जैसे ही उन्होंने आळार कालाम से मिलने की योजना बनाई, एक देवता ने उन्हें बताया कि उनके शिक्षक का सात दिन पहले निधन हो गया था। इसी तरह, उद्दक रामपुत्त से मिलने की उनकी इच्छा उनकी मृत्यु के कारण नाकाम हो गई थी।

[165] P. Olivelle, *Journal of the American Oriental Society* (JAOS) 119 (1999), p. 66.

[166] Cf. F. Wilhelm, *Prufung und Initiation im Buche Pausya und in der Biographic des Naropa,* Wiesbaden 1965.

[167] *ChU* IV 4,5 : सत्यकाम जाबाल को चार सौ दुर्बल पशुओं की देखभाल के लिए भेजा जाता है; उन्होंने उनकी संख्या एक हजार तक बढ़ाने के बाद ही वापस लौटने की शपथ ली। वर्षों बाद जब वह लक्ष्य प्राप्त हुआ तब उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई।

[168] महाभारत I 3,100-176 : उत्तंक को राजा पौष्य से अनुरोध करने के लिए भेजा जाता है कि वे अपनी रानी की कान की बालियाँ दे दें।

[169] महाभारत I 3,32-78 : उपमन्यु (परीक्षोपमन्योः) की इस परीक्षा में शिक्षक ने कदम-दर-कम विद्यार्थी की आज्ञाकारिता का परीक्षण करने के लिए उसे सभी भोजन से वंचित कर दिया; I 3,79-82 : जब तक लम्बे समय के बाद उसके शिक्षक उसकी आज्ञाकारिता से प्रसन्न नहीं हुए, तब तक वेद की इस परीक्षा (परीक्षा वेदस्य) में विद्यार्थी को कठोर जलवायु, भूख और प्यास का सामना करना पड़ा।

[170] महाभारत I 3,20-31 : उद्दालक आरुणि को एक सिंचित खेत में पानी के रिसन को रोकने के लिए कहा गया था और बीच में शिक्षक द्वारा बुलाया गया। इस प्रकार फिर से रिसन चालू हो गया, लेकिन शिक्षक की आज्ञा का पालन किया जाना अनिवार्य था; I 3,86-92 : शिक्षक ने उत्तंक से यह कहा कि वह उसकी अनुपस्थिति में उनके घर की सभी जरूरतों का ध्यान रखे — लेकिन शिक्षक की पत्नी द्वारा उनके उर्वर दौर में यौन सम्बन्ध के अनुरोध को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि यह अनैतिक है।

[171] केवल तिब्बती ग्रन्थों में संरक्षित बौद्ध किंवदन्तियों में प्रसिद्ध तिलोपा ने अपने शिष्य नारोपा को सबसे कठिन और जानलेवा परीक्षणों से परखा : Herbert V. Guenther, *The Life and Teaching of Naropa,* Oxford 1962, pp. 42-98 and Friedrich Wilhelm, *Prufung und Initiation im Buche Pausya und in der Biographic des Naropa,* Wiesbaden 1965, pp. 54-84.

[172] *ApDhS* I 3,8,28f. अपराधेषु चैनम् सततम् उपालभेत। अभित्रास उपवास उदकोपस्पर्शनम् अदर्शनम् इति दण्डा यथामात्रम् आ निवृत्तेः। "यदि (विद्यार्थी) गलती करता है, तो (शिक्षक) डाँट लगाएँगे। विद्यार्थी जब तक अपनी गलती को दुबारा न करने की बात न माने, तब तक उसे डराना, उपवास रखवाना, ठण्डे पानी से नहलाना, और उससे न मिलना जैसे दण्ड दिए जाएँगे।

केवल चरम मामलों में ही शिक्षक शारीरिक दण्ड के लिए पतली रस्सी या छड़ी का उपयोग कर सकते थे,[173] लेकिन ऐसा सिर्फ शरीर के पिछले भाग में ही किया जा सकता था और इससे शरीर के किसी नाजुक भाग को चोट नहीं पहुँचाई जा सकती थी; विद्यार्थी को किसी अन्य चीज से पीटने को अपराध माना जाता था, और ऐसा करने पर राजा द्वारा शिक्षक को सजा दी जाती थी।[174] राज्य का यह हस्तक्षेप एक बाद का घटनाक्रम था, सम्भवतः जब ईसवी की आरम्भिक शताब्दियों में कानूनी कार्रवाई आम बात बन गई; फिर भी, शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच कानूनी कार्रवाई को हतोत्साहित किया जाता था। मुख्य रूप से नारद या बृहस्पति[175] के नाम से प्रचलित एक श्लोक, जिसे (थोड़े अलग तरीके से) याज्ञवल्क्य II 32 पर विज्ञानेश्वर की टीका, मिताक्षरा, में यह कहा गया है कि शिक्षक और विद्यार्थी के बीच कोई कानूनी विवाद या मुकदमेबाजी नहीं होनी चाहिए। हालाँकि, विज्ञानेश्वर मुकदमे की सम्भावना को पूरी तरह से खारिज नहीं करते हैं, क्योंकि गौतम और मनु ने शिक्षक के अपराध के मामले में कानूनी कार्रवाई की परिकल्पना की थी : "जब एक शिक्षक क्रोधवश एक विद्यार्थी को छड़ी से शरीर के ऊपरी हिस्से में मारता है [और] जब विद्यार्थी को इस अवैध तरीके से प्रताड़ित किया जाता है, और वह राजा को सूचना देता है, तो यह वास्तव में एक मुकदमे का मसला बन जाता है।"[176]

पारम्परिक शिक्षा की एक सामान्य विशेषता यह रही है कि इसमें सकारात्मक उदाहरणों पर जोर दिया जाता है। शिक्षक श्लोक को तब तक सही तरीके से दोहराएँगे जब तक विद्यार्थी उसे सही तरह से नहीं दोहराते; विद्यार्थी के गलत तरीके के उच्चारण की नकल करना मना था। हम इसे पतंजलि के महाभाष्य के अभ्यास में देखते हैं जहाँ गलत तरीके से उच्चारण को लगभग पूरी तरह टाल दिया जाता है। यह केवल एक स्पष्ट उल्लंघन है जब अक्षम व्याकरणकर्ता को गलत तरीके से दुरुता शब्द का उच्चारण करने की अनुमति दी जाती है (जिसे वह सोचता है कि यह सूत या "सारथी" के विपरीत है, जिसे गलत तरीके से सु + उता अर्थात् "अच्छे चालक" के रूप में वर्णित किया गया है, इसलिए दुर + उता का अर्थ हुआ "बुरा चालक"); असल में, दुरुता शब्द का अर्थ होता है, "गलत तरीके से बुना हुआ", एक अन्य शब्द होता है दुःसूत, जिसका अर्थ "बुरा चालक" होता है।[177] एक और उचित अपवाद मौजूदा व्यक्तिगत नाम देवदिण्ण का उद्धरण भी है। संस्कृत व्याकरण के मानकों के अनुसार यह नाम देवदत्त होना चाहिए। कौटलीय अर्थशास्त्र युवा राजकुमार को उसके प्रशिक्षण के दौरान विभिन्न बुराइयों के माध्यम से लुभाने के खिलाफ सलाह देता है : "जो जागा न हो, उसको जगाना बहुत खतरनाक है।" अपरिपक्व राजकुमार का मन कुछ पापी विचारों को

महाभाष्य I 41,24एफ़ के अनुसार लापरवाह विद्यार्थी को एक थप्पड़ मारा जा सकता है। (नीचे पृ. 246 [पुस्तक का पृष्ठ 246 ... अनु.] देखें)।

[173] उदाहरण के लिए, यह जेसुइट स्कूल के बिलकुल विपरीत है, जहाँ एक भाड़े के "सुधारकर्ता" या एक साथी छात्र को भी नित्य कोड़े मारने (इस तरह इस अप्रिय कर्म से पादरियों को दूर रखने) के लिए रखा जाता था : W. Ong, in George Spindler (ed.), *Education and Culture,* New York 1963, p. 454.

[174] *GauDhS* II 48-50, शिष्य शिष्टिर् अवधेन। अशक्तौ रज्जु-वेणुविदलाभ्यां तनुभ्यां। अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः, "विद्यार्थी को पिटाई के बगैर अनुशासनात्मक सजा (दी जानी चाहिए)। यदि यह सम्भव नहीं है तो एक पतली रस्सी या विभाजित बाँस के साथ (शिष्य को मारा जा सकता है)। अगर वह और किसी चीज से मारता है तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जा सकता है।" साथ ही देखें, मनु VIII 299f.; विष्णु-स्मृति LXXI 81f; नारद-स्मृति V 12f.

[175] याज्ञवल्क्य II 5 पर विश्वरूप की टीका, और कुछ अन्य परवर्ती संकलन (Kane, *HoDh,* vol. III p. 299 fn. 418) द्वारा :

गुरु-शिष्यौ पिता-पुत्रौ दम्पती स्वामि-भृत्यकौ ।
एतेषां समवेतानां व्यवहारो न विद्यते ।।

"शिक्षक और छात्र, पिता और पुत्र, पति और पत्नी, स्वामी और नौकर — इनके बीच घनिष्ठ आत्मीय सम्बन्ध होते हैं, इसलिए इनके बीच कोई मुकदमा नहीं होता है।"

[176] याज्ञवल्क्य II 32 पर मिताक्षरा, यदि गुरुः कोपावेश-वशान् महता दण्डेनोत्तमाङ्गे ताड़यति, तदा स्मृति-व्यापेतेन मार्गेणधर्षितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति, तदा भवति एव व्यवहार-पदम्।

[177] *Mahabhasya* on *Panini* II 4 56.

आत्मसात कर सकता है। “इसलिए उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो आध्यात्मिक और भौतिक रूप से नुकसानदेह होने के बजाय आध्यात्मिक और भौतिक भलाई के अनुरूप हो।”[178]

हमें सदियों से शिक्षा देने की प्रक्रिया में हुए बदलावों के बारे में सिर्फ अपूर्ण ज्ञान है। आरम्भिक वैदिक काल में विद्यार्थी जो कुछ भी कण्ठस्थ करता था, वह उसे सबसे ज्यादा समझ में आता था, क्योंकि श्लोकों की भाषा उसकी अपनी भाषा के बहुत करीब थी। लेकिन यास्क के समय से ही तत्काल समझ आना कम हो चला था; कई शब्द बोलचाल की शब्दावली से लुप्त हो रहे थे, और भाषा में अन्य कई परिवर्तन हो गए थे। पहले के शिक्षकों ने मंत्रों के नाजुक कविता (intricate poetry) के गुप्त रहस्यों को समझने में अपने विद्यार्थियों की सहायता की होगी, लेकिन धीरे-धीरे ऐसे ग्रन्थों की संख्या बढ़ती गई, जिन्हें याद करना था, इसके चलते अन्तर्वस्तु पर कम ध्यान दिया जाने लगा, और औसत विद्यार्थी की इस बारे में बहुत कम समझ होती थी कि उसने क्या सीखा। बहुत-से कर्मकाण्डियों ने वेद के केवल उन्हीं भागों को सीखा जो कर्मकाण्डों को पूरा करने के लिए आवश्यक थे; लेकिन ऐसे व्यक्ति या विद्यार्थी के लिए व्याकरण का कम-से-कम बुनियादी ज्ञान आवश्यक था ताकि वह स्थिति के अनुसार मंत्रों को पढ़ पाए। यह एक ऐसे समय में समस्या बन गई जब संस्कृत उनकी मातृभाषा (या निकट मातृभाषा) नहीं रही।[179] संस्कृत के कामचलाऊ ज्ञान की आवश्यकता ने व्यवहारिक संवाद के व्याकरण के निर्माण को बढ़ावा दिया जिसका उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड विशेषज्ञों (वैदिक) को सरल तरीके से प्राथमिक संस्कृत का ज्ञान देना था। वरदराज की गीर्वाणमंजरी सोलहवीं सदी में, और धुंडीराज की गीर्वाणवान्मंजरी 1702-1704 में लिखी गई थी,[180] वामदेव मिश्र की संस्कृततत्त्वबोधिनी शायद अठारहवीं या उन्नीसवीं सदी में, और शिवशर्मन की वरसंस्कृतमंजरी की रचना 1775 और 1777 के बीच मानी जाती है।[181] अन्तिम उल्लेखित ग्रन्थ में मनोरंजक कहानियों के साथ-साथ रूप विधान (morphology) (यहाँ तक कि प्रतिमान — paradigms) का शिक्षण भी शामिल है। गीर्वाणवान्मंजरी में “देशज संस्कृत” का उपयोग है, जिसमें मराठी और बनारस की कुछ हिन्दी बोलियों का प्रभाव है। देशपांडे ‘अयी मयदीर्घशंकार्थम् गम्यते’ जैसे वाक्यों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है “मुझे लम्बे डर के लिए जाना है,” दीर्घ शंका का शाब्दिक अर्थ “लम्बा डर” (और लघु शंका का अर्थ “छोटा डर” है)। असल में, “ब्राह्मण मराठी में (तथा हिन्दी और गुजराती में भी) दीर्घ शंका को मल त्याग और लघु शंका को मूत्र त्याग के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है।[182] स्कूली जीवन में हास्य भी मौजूद था। मसलन, दूरस्थ आश्रम में रहने वाले विद्यार्थियों की कहानी में यह बात देखी जा सकती है, जो एक घोड़े को देखते हैं, और शास्त्रों की परिभाषा का अनुसरण करते हुए उसे पहचानते हैं।[183] व्याकरण के नियमों के अनुसार अपरिचित रूपों के निर्माण ने कई चुटकुलों को प्रेरित किया।

---

[178] *Kautaliya Arthasastra* I 17,30 and 33: महादोषम् अबुद्ध-बोधनम्... तस्माद् धर्म्यम् अर्थं चस्योपदिशेन् नाधर्म्यम् अनर्थयं च। नीचे पृ. 267 (पुस्तक का पृष्ठ 267 ... अनु.) भी देखें।

[179] एम देशपांडे (in: *Ideology and Status*, pp. 408f.) के पास उन समस्याओं की कुछ मनोरंजक कहानियाँ हैं जो आज भी उत्पन्न होती हैं, जब एक पुजारी समारोह के दौरान परिस्थिति के लायक मंत्रों में आवश्यक समायोजन (ऊह) नहीं कर पाता। उदाहरण के तौर पर, एक पुजारी (पेशे से एक इंजीनियर) कन्यादान के दौरान एक मानक मंत्र का पाठ करता है कि “मैं तुम्हारे बेटे को अपनी लड़की देता हूँ,” जब उसे बताया गया कि यहाँ पर पिता का स्थान चाचा ने लिया था, तब उसने हताशा में दोषपूर्ण संस्कृत में एक नया सूत्र गढ़ा, और उससे बच निकला। असल में, उसे पता था कि श्रोता के रूप में मौजूद लोग उससे भी कम संस्कृत जानते हैं।

[180] यू पी शाह, बड़ौदा द्वारा 1960 में दोनों को ही सम्पादित किया गया। बाद वाले का अध्ययन M. Deshpande, *Sanskrit & Prakrit, Sociolinguistic Issues*, Delhi 1993, pp. 40-51 द्वारा किया गया।

[181] A. Wezler, in *Ideology and Status,* pp. 327-346. यह उम्मीद है कि ए वेज़लर बाद के दो ग्रन्थों का भी सम्पादन करेंगे।

[182] M. Deshpande, *ibid.*, p. 41.

[183] Bhavabhuti's *Uttararamacarita*, act IV after stanza 25 incl. stanza 26: H. Jacobi, *Zeitschrift fur Indologie und Iranistik* (ZII) 6 (1928), pp. 178-183.